Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बारसाणुवेक्खा

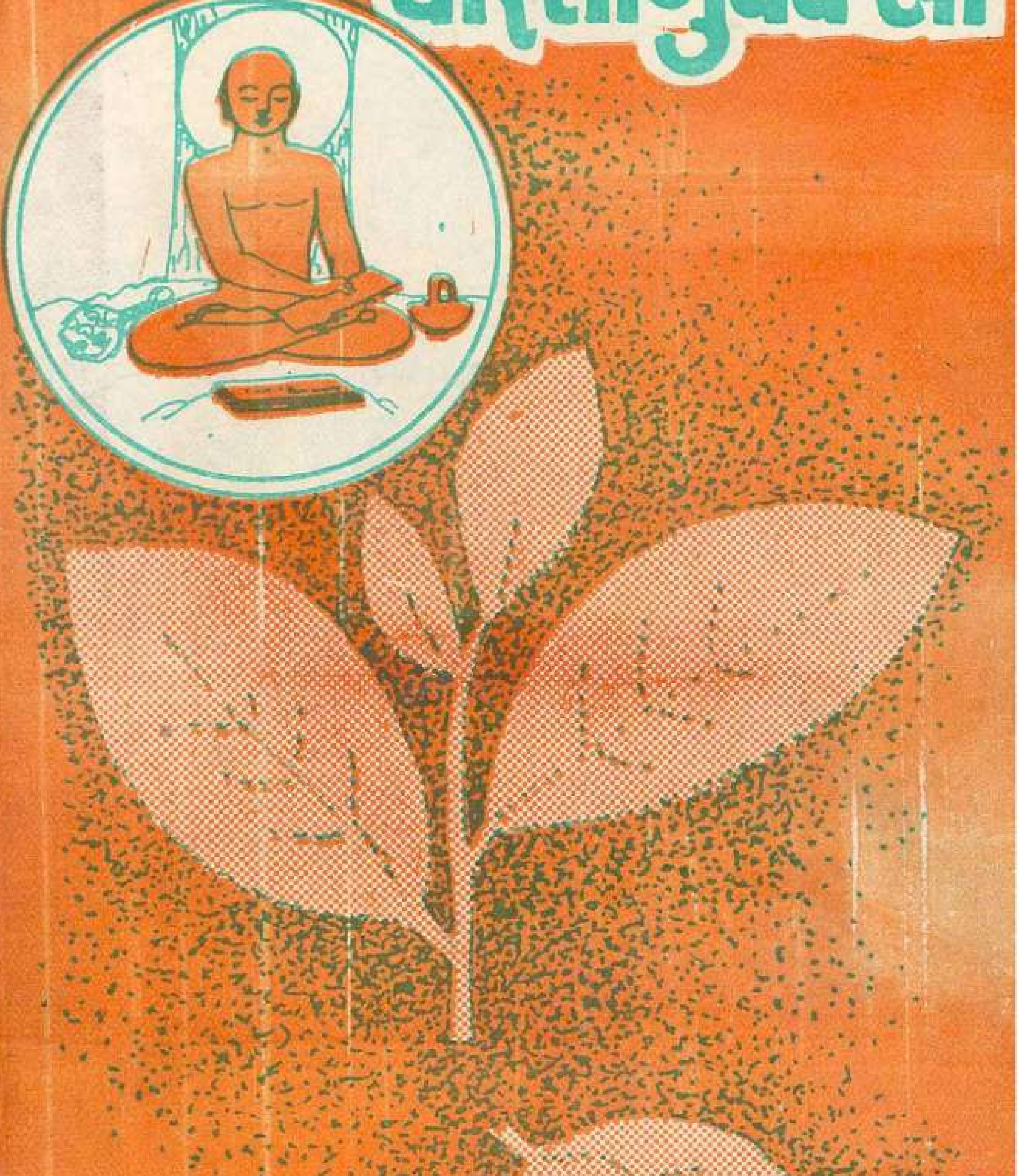

सम्पा०

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्य कुन्दकुन्द रचित

वारसाणुवेक्खा

(द्वादशानुप्रेक्षा)

सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक :

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

एम. ए., पी- एच. डी., साहित्याचार्य,
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
जावरा (रतलाम) म. प्र.

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम संस्करण :
दि. 15 अगस्त, 1991

©सर्वाधिकार सुरक्षित

VARASANUVEKKHA
OF
ACHARYA KUNDAKUNDA

मूल्य :
सामान्य संस्करण : आठ रुपया
पुस्तकालय संस्करण : दस रुपया

मुद्रण :
कोटावाला ऑफसेट
'सी' स्कीम, जयपुर (राजस्थान)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dr Mihir Kothari, Mumbai, India who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of VarasAnuvekha (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	8 July 2009	First electronic version

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की ओर से 'वारसाणुवेक्खा' का प्रकाशन कर हम हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। दिगम्बर परम्परा के शिरमौर आचार्य कुन्दकुन्द रचित इस कृति का सम्पादन जैन जगत् के प्रसिद्ध विद्वान मनीषी डॉ. देवेन्द्र कुमारजी शास्त्री, नीमच द्वारा बड़े ही श्रम से किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द जिनागम के शिरोमणि तथा महामेरू हैं। उनके सभी ग्रंथ आध्यात्मिक विशेषताओं से भरपूर हैं। इसलिए रचना पढ़ते ही चित्त प्रफुल्लित हो जाता है; इस तरह का अध्ययन-अध्यात्मप्रेमी समाज को बल व स्फूर्ति प्रदान करता है। परमागम व अध्यात्म के प्रचार-प्रसार हेतु समर्पित पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के लिए इसका प्रकाशन निश्चय ही गौरव का विषय है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं उसकी सहयोगी संस्थाओं के माध्यम से आ. कुन्दकुन्द की लगभग सभी महत्वपूर्ण कृतियाँ यथा समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि के प्रकाशनों के अतिरिक्त आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार, आ. कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम, कुन्दकुन्दशतक, शुद्धात्मशतक का प्रकाशन हम पूर्व में ही कर चुके हैं जो काफी लोकप्रिय हुए हैं। आशा है समाज इस कृति को भी यथोचित्त सम्मान देगी।

कृति के सम्बन्ध में तो अधिक क्या लिखा जाए इस विषय पर डॉ. देवेन्द्र कुमारजी ने अपनी प्रस्तावना में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला ही है। शास्त्रीजी ने इस कृति के सम्पादन में अथक परिश्रम किया है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

इस कृति के प्रकाशन हेतु श्री भगवानजी भाई कचराभाई, लन्दन ने कीमत कम करने हेतु लागत के 30% का सहयोग दिया है, जिसके लिए यह ट्रस्ट उनका आभारी है।

आप सभी इस कृति से लाभ उठाकर अपना भव सार्थक करें इसी आशा और विश्वास के साथ।

नेमीचन्द पाटनी

महामंत्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रस्तावना

तत्त्व-मीमांसक, वस्तुवादी दर्शन के अन्वेषक, यथार्थ द्रष्टा, सत्यानुभूति के परम आविष्कारक तथा प्रकाशक, प्रतिष्ठापक आचार्य एवं अध्यात्म के सम्यक् प्रस्तोता आचार्य कुन्दकुन्द का नाम "आत्मविद्या के आविष्कारक" के रूप में सदा स्मरणीय रहेगा। लगभग तीन सहस्राब्दियों के सुदीर्घ जैन इतिहास में उन जैसा व्यक्तित्व न हुआ है और न होगा। क्योंकि अनेकान्त रूप जिनागम के मौलिक स्वरूप को गाथा-सूत्रों में निबद्ध कर विशदता के साथ प्रकाशित करने वाले आद्य सारस्वताचार्य तथा द्वादशांग जिनवाणी के अंगएकदेश पूर्व के ज्ञाता रूप में भी वे स्मरणीय रहेंगे। यही कारण है कि भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् आज भी मंगल के रूप में उनका स्मरण किया जाता है [१]। आचार्य जयसेन के शब्दों में "जिन्होंने अपने बुद्धि रूपी सिर पर महान् 'समयसारपाहुड' रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवों के लिए अर्पित किया, वे पद्मनन्दि महर्षि जयवन्त हों [२]। वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द जिनशासन के शिरोमणि तथा महामेरु थे। उन्होंने जिस अनेकान्त की नींव पर जैनदर्शन का प्रासाद स्थापित किया है, वह इतना सुदृढ़ है कि विभिन्न मतों के गोले-बारूदों से छिन्न-भिन्न होने की बात तो दूर रही, वह हिल भी नहीं सकता है।

नाम—

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत के पाश्र्वनाथ मन्दिर के नवरंग में उत्कीर्ण प्रशस्ति तथा शिलालेखों में "कोण्डकुन्द" नाम का उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत में वे "कोण्डकुण्ड" और उत्तर भारत में "कुन्दकुन्द" नाम से विश्रुत रहे हैं। "कोण्डकुन्द" यह स्थानवाची नाम है। उनके बचपन के नाम का तो पता नहीं है, किन्तु कुन्दकुन्दान्वय की सर्वत्र प्रसिद्धि रही है। इस आधार पर ही क्या मूर्ति-लेखों में, क्या प्रशस्तियों में और क्या पट्टावलियों में और क्या ताम्र-पत्रों में, दान-पत्रों में सभी अभिलिखित लेख-अभिलेखों में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके अन्वय के उल्लेख की परम्परा अवश्य रही है। इसी से पता चलता है कि यह नाम इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी रचनाओं से प्राचीन परम्परा भलीभाँति परिचित रही है। आचार्य इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' से यह ज्ञात होता है कि द्रव्य-भावश्रुत रूप दोनों ग्रन्थ की परम्परा गुरु-परिपाटी से कुण्डकुन्दपुर में श्री पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुई [३]। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कुण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि कोण्डकुन्द ही थे, क्योंकि उनका वास्तविक नाम पद्मनन्दि था। श्रवणबेलगोल के कई शिलालेखों से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। शिलालेख क्रं ४० में उल्लेख है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥

इन शिलालेखों को ध्यान से देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार का नाम पद्मनन्दि था जो आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से विश्रुत रहे हैं[४]। यद्यपि पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ ये पाँच नाम कुन्दकुन्द के कहे जाते हैं, लेकिन इनमें से कुन्दकुन्द और पद्मनन्दि ये दो नाम प्रसिद्ध रहे हैं। जैन वाङ्मय में कुन्दकुन्द और पद्मनन्दि नाम के कई मुनि तथा रचनाकार हुए, जिनके सम्बन्ध में अगले पृष्ठों पर विचार किया जायेगा। यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है कि परमागम के रचनाकार प्रथम कुन्दकुन्द या प्रथम पद्मनन्दि आचार्य थे।

गुरु-परम्परा—

जिनागम की संवाहक परम्परा तीर्थंकर महावीर और उनके प्रमुख इन्द्रभूति गौतम गणधर से सम्बद्ध रही है। आचार्य कुन्दकुन्द "समयसार" के प्रारम्भ में प्रथम गाथा में कहते हैं—श्रुतकेवली द्वारा कथित "समयपाहुड" का वर्णन करूँगा। यह भी प्रसिद्धि है कि श्री गौतम गणधर ने द्वादशांग श्रुत की रचना की थी। उसे धारण करने वाले तीर्थंकर महावीर के पश्चात् ६२ वर्ष पर्यन्त गौतम गणधर के अतिरिक्त सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी केवलज्ञानी हुए। उनके अनन्तर एक सौ वर्ष के भीतर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु प्रथम ये पाँच श्रुतकेवली हुए। प्राकृत की तथा अन्य पट्टावलियों में तथा 'श्रुतावतार' के अनुसार भी यहाँ तक परम्परा एक मिलती है। इसमें किसी भी प्रकार का अन्तर लक्षित नहीं होता। किन्तु दशपूर्व के धारक ग्यारह मुनियों का समय कहीं पर १४३, कहीं पर १८१ और कहीं पर १८३ वर्ष कहा गया है। इसके पश्चात् पाँच एकादशांगधारियों का समय १२३ वर्ष कहा गया है। १०, ९ और ८ अंग के ज्ञाता आचार्यों का समय ९७ वर्ष कहा गया है। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर के ५६५ वर्ष पर्यन्त धारणा शक्ति इतनी मन्द हो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गई थी कि केवल एक अंग के धारक ही रह गये थे। प्रथम भद्रबाहु श्रुतकेवली का समय ई.पू. ३९०-३६१(५) माना जाता है [५]। एक अंग के धारक जिन पाँच आचार्यों का उल्लेख किया गया है, उनका समय सभी अभिलेखों में ११८ वर्ष कहा गया है। पं. सदासुखजी के शब्दों में "बहुरि सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु, महायश, लोहाचार्य ये पाँच महामुनि एक प्रथम अंग का पारगामी ११८ वर्ष में भये। ऐसे काल के निमित्त तैं बुद्धि-वीर्यादिकनि की मन्दता होते श्री कुन्दकुन्दादिक अनेक परम निर्ग्रन्थ वीतरागी अंग के वस्तुनि का ज्ञानी होते भये। तथा उमास्वामी भये।" प्राकृत की पट्टावलि के अनुसार एकांगधारी पाँच आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं— अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि। इनका समय ११८ वर्ष कहा गया है। आश्चर्य की बात यह है कि इस पट्टावलि में महत्त्वपूर्ण आचार्य न तो गुणधर का कहीं नाम है और न आचार्य कुन्दकुन्द का। इसका कारण यही है कि 'श्रुतावतार' के रचनाकारों ने आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को मुख्य रूप से ध्यान में रखकर लिखा जो प्रथम श्रुतस्कन्ध परम्परा के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत नन्दिसंघ की तथा अन्य पट्टावलियों में जिनमें पद्मनन्दि अपर नाम आचार्य कुन्दकुन्द का उल्लेख है उनमें आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का उल्लेख नहीं है। नन्दिसंघ की प्राकृत की पट्टावलि के उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य अर्हद्बलि द्वादशांगों और चौदह पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे। आचार्य अर्हद्बलि के शिष्य आचार्य माघनन्दि और उनके शिष्य आचार्य धरसेन और उनके शिष्य पुष्पदन्त-भूतबलि थे। पट्टावलि में पट्टधारी जिनचन्द्र और उनके शिष्य पद्मनन्दि-कुन्दकुन्द का उल्लेख किया गया है। शिलालेखों से भी इसकी पुष्टि होती है[६]। प्रथम शुभचन्द्र की गुर्वावली में उल्लेख है—आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य गुप्तिगुप्त, आचार्य माघनन्दि और उनके पट्ट पर जिनचन्द्र तथा जिनचन्द्र के पट्ट पर आचार्य पद्मनन्दि हुए जो कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध थे[७]। श्रुतमुनि की पट्टावलि में तथा द्वितीय शुभचन्द्र की पट्टावलि में आचार्य भद्रबाहु के वर्णन के साथ ही उनके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का उल्लेख किया गया है[८]। "विरुदावली" में तीर्थंकर महावीर की दिव्य वाणी को प्रकाशित करने वाले गौतम स्वामी गणधर के शिष्य श्रुतकेवली भद्रबाहु, माघनन्दि और उनके पट्ट पर हुए मुनीन्द्र जिनचन्द्र और उनके शिष्य पद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य, उनके शिष्य उमास्वाति और उनके शिष्य लोहाचार्य का वर्णन किया गया है[९]।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु आचार्य जिनचन्द्र और दादागुरु आचार्य माघनन्दि थे।

सरस्वतीगच्छ की प्रकाशित प्राकृत-पट्टावलि के अनुसार आचार्य भद्रबाहु प्रथम के शिष्य गुप्तिगुप्त हुए। उनके तीन नाम थे–गुप्तिगुप्त, अर्हद्बलि, विशाखाचार्य। आचार्य गुणधर अर्हद्बलि से पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्थापित संघों में से एक का नाम गुणधर संघ है[१०]। आचार्य गुणधर पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व स्थित दशमवस्तु के तृतीय 'पेज्जदोस पाहुड' के पारगामी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त 'महाकम्मपयडि पाहुड' का भी उनको ज्ञान था। वे प्रथम श्रुतस्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध दोनों के विशिष्ट विद्वान् थे। जिनागम में आचार्य गुणधर का नाम सर्वप्रथम सूत्रकार के रूप में सदा स्मरणीय रहेगा। आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने आचार्य गुणधर द्वारा उपसंहृत १८० गाथाओं में तथा ५३ विवरण गाथाओं सहित २३३ गाथाप्रमाण 'पेज्जदोस पाहुड' को मौखिक श्रुत रूप में प्राप्त किया था[११]। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे उनके साक्षात् शिष्य थे। इस परम्परा से प्रथम श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति श्री धरसेनाचार्य से आचार्य भूतबलि-पुष्पदन्त विरचित "षट्खण्डागम रूप में प्रकट हुई। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति आचार्य गुणधर के तृतीय प्राभृत से मानी जाती है। आचार्य गुणधर से आचार्य जिनचन्द्र को आचार्य जिनचन्द्र से यह परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुई।

श्रुतधराचार्य कुन्दकुन्द–

जैन वाङ्मय में आचार्य कुन्दकुन्द की गणना श्रुतधराचार्य के रूप में की जाती है। श्रुतधराचार्य से अभिप्राय उनसे है जो केवली और श्रुतकेवली की परम्परा को प्राप्त कर अंग या पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता आचार्य हुए[१२]। श्रुतधराचार्य की परम्परा आचार्य गुणधर से प्रारम्भ होती है। आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय का सीधा सम्बन्ध श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम से रहा है। उन्होंने स्वयं "बोधपाहुड" में दो अलग-अलग गाथाओं में दो आचार्यों का स्मरण किया है। द्वादशांग के ज्ञाता तथा चतुर्दश पूर्वांग का विपुल विस्तार करने वाले आचार्य भद्रबाहु प्रथम को वे अपना "गमकगुरु" (प्रबोधक या प्रेरक) कहते हैं[१३]। लेकिन इससे पूर्व आचार्य भद्रबाहु द्वितीय को वे अपना साक्षात् गुरु कहते हैं। उनके ही शब्दों में–शब्दों के विकार (परिणमन) से प्रकट हुए श्रुत को जिनेन्द्रदेव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ने भाषात्मक सूत्रों में जैसा कहा है, वैसा ही आचार्य भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य (मुझ कुन्दकुन्द) ने यहाँ पर कहा है[१४]। पं. जुगलकिशोर मुख्तार भी यही मानते हैं कि ६१वीं गाथा में उल्लिखित भद्रबाहु द्वितीय ग्रहण करना चाहिए[१५]। द्वितीय भद्रबाहु का समय तीर्थंकर महावीर के ४९२ वर्ष पश्चात् है। वे ई.पू. ३५-१३ ई.पू. में पट्टधर आचार्य रहे। आचार्य कुन्दकुन्द इनके समय में ही एक अंग के ज्ञाता तीर्थंकर महावीर के अनन्तर ६८३ वर्ष की परम्परा में स्मरणीय रहे हैं।

जन्म-स्थान—

इन्द्रनन्दि के "श्रुतावतार" से पता चलता है कि पद्मनन्दि अपर नाम कोण्डकुन्द 'कोण्डाकुण्डा' के थे। किन्तु इस उल्लेख से यह निश्चय नहीं होता है कि यह उनका जन्म-स्थान था। सम्भव है वे बहुत समय तक वहाँ पर रहे हों या वह तपस्या-स्थल रहा हो। दक्षिण भारत में जैनधर्म का अध्ययन करने वाले प्रमुख दो विद्वानों ने सर्वप्रथम यह प्रसिद्ध किया था कि आन्ध्रप्रदेश में अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित गुन्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग चार मील दूर 'कोण्डकुण्डल' ही वह स्थान है जहाँ पर कुन्दकुन्द का जन्म हुआ था। इस स्थान के कई उच्चारण लक्षित होते हैं; जैसे कि कोण्डाकुन्दे, कोणकोण्डल, कोणकुण्टल, आदि। अभिलेखों से पता चलता है कि इस स्थान का प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' था[१६]। वहाँ के रहने वाले लोग आज भी इस स्थान को 'कोण्डकुन्दि' कहते हैं। कन्नड़ में 'कुण्ड' तथा 'कोण्ड' शब्द का अर्थ पहाड़ी या पर्वतीय उपत्यका स्थान किया जाता है। आज भी वहाँ पर दो पहाड़ियां हैं जिन पर जैन पुरातत्त्व विकीर्ण है। पहाड़ी पर पहुँचने के लिए कोई मार्ग नहीं है। पहली पहाड़ी पर तो किसी प्रकार से पहुँच सकते हैं, लेकिन दूसरी पहाड़ी के सघन वन में स्थित होने के कारण उस पर पहुँचना कठिन है। प्रथम पहाड़ी की चट्टान में से एक प्रतिमा निकाल ली गई है, किन्तु आकार अवशिष्ट है। उसके पास ही बाईं ओर शिला पर ढाई द्वीप का चित्र (नक्शा) अंकित है जो कहीं-कहीं से घिस जाने पर भी स्पष्ट रूप से उभरा हुआ है। दाहिनी ओर थोड़ी ऊँचाई पर तीनों तरफ लगभग पाँच फुट की दीवार है और सामने तथा ऊपर का भाग खुला हुआ है। पास ही एक शिला पर अत्यन्त मनोज्ञ तथा प्राचीन दो खड्गासन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं जिन पर कोई चिह्न या प्रशस्ति अंकित नहीं है। प्रतिमाएँ पूर्ण दिगम्बर मुद्रा में हैं। किन्तु वहां के निवासी नाभि के पास और पैरों में सिन्दूर की तीन-तीन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रेखाएं चार-चार अंगुल चौड़ी खींच देते हैं। साधारण जनता "रससिद्धान्त—गुडलु" के रूप में उनकी पूजा करती है। कहा जाता है कि पहले यहाँ पर दो हजार जैनियों की बस्ती थी, डेढ़ सौ जिनमन्दिर थे और दो सौ कुएँ थे, लेकिन आज कुछ भी नहीं है।

यद्यपि बी.ए. सालतोरे और पी.बी. देसाई आन्ध्रप्रदेश के 'कोण्डकोण्डल' को आचार्य कुन्दकुन्द का निवास-स्थान मानते हैं, लेकिन डॉ. हनुमन्थराव उनसे सहमत नहीं हैं[१७]। उनका कथन है कि जिन शिलालेखों में कोण्डकुन्द का उल्लेख मिलता है वे सातवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। उनका सम्बन्ध यापनीय संघ से है; जबकि आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघ के हैं[१८]। आन्ध्र प्रदेश में विभिन्न कालों में विविध धर्मों के अध्येता विद्वान डॉ. राव का यह सुझाव है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थान विजयवाड़ा है, जहाँ पर कृष्णा नदी के तट पर विजयवाड़ा नगर के सम्मुख कालनुकोण्डा कुन्दकुन्दाचार्य का निवास-स्थान रहा है। इसका आधार यह है कि वहाँ की अकन्ना-मदन्ना गुफाओं में कोई प्राचीन अभिलेख है[१९]। डॉ. राव का यह कथन सचाई से भरपूर है कि ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग आन्ध्र प्रदेश में तथा दक्षिण भारत के अन्य भागों में जैनधर्म के प्रसार का श्रेय कोण्डकुण्डाचार्य को है[२०]। जब तक पूरी तरह से अन्वेषण नहीं हो जाता, तब तक 'कोण्डकुन्दे' को आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थल मानना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर उत्कीर्ण कई शिलालेखों में से एक त्रुटित शिलालेख में पद्मनन्दि नाम दो बार आया है। वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम पद्मनन्दि था।

कहा जाता है कि पोन्नूर नामक ग्राम में आचार्य कुन्दकुन्द ने घोर तपस्या की थी। पोन्नूरमलै पर आचार्य कुन्दकुन्द के चरण-चिह्न हैं। यह पर्वत दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है। पोन्नूर ग्राम तमिलनाडु में आकोड जिले में मद्रास से ८0 मील दूर वर्तमान पोन्नूर हिल कहा जाता है। पोन्नूर का अर्थ है—सोना, स्वर्ण। अतः इसे हेमग्राम भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की तपोभूमि के साथ यह उनकी रचनास्थली भी रही है। पोन्नूर में ही उन्होंने पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, आदि महान परमागम ग्रन्थों की रचना की थी। जो भी हो, यह सुनिश्चत है कि आचार्य कुन्दकुन्द का आन्ध्र प्रदेश से विशेष सम्बन्ध रहा है और दक्षिण भारत के जैन साधुओं पर तथा भारतीय समाज पर उनका बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। वे अत्यन्त विश्रुत, प्रभावशाली,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुशास्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए। इसलिए एक हजार वर्ष के पश्चात् उनके साथ कई तरह की किंवदन्तियाँ जुड़ गई।

पद्मनन्दि नामक आचार्य—

जैन वाङ्मय में पद्मनन्दि नाम के कई आचार्य हो गए हैं। उनमें से एक आचार्य पद्मनन्दि ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। वे 'जंबूदीवपण्णत्ति' के कर्त्ता कहे गए हैं। उनका जन्म विजयगुरु के निकट वारा नगर में शक्ति भूपाल के समय में हुआ था। वे बलनन्दि के शिष्य थे[२१]। दूसरे पद्मनन्दि भी ग्यारहवीं सदी के तिन्त्रिणी गच्छ के सिद्धान्त-चक्रेश्वर पद्मनन्दि थे[२२]। उनके सम्बन्ध में विशेष कोई उल्लेख नहीं मिलता। इतना अवश्य है कि वे दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुए थे और कदम्बवंशीय राजा कीर्तिदेव की पटरानी द्वारा पूजित तथा सम्मानित हुए थे। तीसरे पद्मनन्दि मलधारि के नाम से प्रसिद्ध थे, जिनका समय १०८७ ई. (वि.स. ११५४) कहा गया है[२३]। चौथे पद्मनन्दि आचार्य वीरनन्दि के शिष्य "पंचविंशति" के रचयिता थे, जिनका समय बारहवीं शताब्दी कहा गया है। पाँचवें पद्मनन्दि व्रती कहे गये हैं जो आचार्य शुभचन्द्र के शिष्य थे। उनका समय विक्रम की बारहवीं सदी कहा गया है[२४]। एक आचार्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के नाम से दसवीं शताब्दी में हो गये जो आचार्य प्रभाचन्द्र के गुरु थे[२५]। सातवें पद्मनन्दि इन्हीं आचार्य प्रभाचन्द्र के शिष्य तथा प्रतिष्ठाचार्य हुए[२६]। ये वही आचार्य प्रभाचन्द्र थे जिन्होंने "प्रमेयकमलमार्तण्ड" तथा "न्याय कुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय टीका) जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी। आचार्य कुन्दकुन्द के "प्रवचनसार" की "प्रवचन-सरोज-भास्कर" टीका भी आपने लिखी थी जो अद्यावधि अप्रकाशित है। इनके अतिरिक्त भट्टारक प्रभाचन्द्र कालान्तर में हुए।

आठवें पद्मनन्दि कुण्डलपुर निवासी कहे गये हैं जिन्होंने चूलिका सिद्धान्त की व्याख्या वृत्ति १२,००० श्लोकप्रमाण रची थी[२७]। इसी प्रकार एक अन्य पद्मनन्दि कर्णखेट ग्राम में उत्पन्न हुए थे जिन्होंने सुगन्धदशमी-उद्यापन, आदि ग्रन्थों की रचना की थी[२८]। ये बहुत बाद के जान पड़ते हैं। वास्तव में पद्मनन्दि नाम के अनेक विद्वान् हुए। उनमें भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर शिष्य भट्टारक पद्मनन्दि देहली के पट्ट पर वि.सं. १३७५ में प्रतिष्ठित हुए थे। उनकी लिखी हुई कई रचनाऐं कही जाती हैं। "श्रावकाचारसारोद्धार" इनकी प्रसिद्ध रचना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। पं. पन्नालालजी बाकलीवाल ने वि.सं. १३६२ के जिन लघु पद्मनन्दी भट्टारक का उल्लेख किया है ; वे यही प्रतीत होते हैं। इनकी रची हुई यत्याचार, आराधना-संग्रह, परमात्मप्रकाश टीका, श्रावकाचार, रत्नत्रयकथा, आदि अनेक रचनाएँ कही गई हैं।

एक अन्य भट्टारक पद्मनन्दि भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य कहे गये हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान् कहे गए हैं। इनके साथ ही वह ऐतिहासिक घटना सम्बद्ध है जिसमें कहा गया है—मुनियों में श्रेष्ठ उन पद्मनन्दि को नमस्कार हो जिन्होंने ऊर्जयन्त पर्वत पर पाषाण की बनाई गई सरस्वती मूर्ति को भी वाचाल कर दिया था[९]। भ. शुभचन्द्र के शब्दों में—

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
ऊर्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥६३॥

एक अन्य विद्वान् मुनि पद्मनन्दि कहे गये हैं जो संस्कृत में "वर्द्धमानचरित्र" के रचयिता थे[१०]। उनका समय अज्ञात है। एक अन्य पद्मनन्दि मुनि अनुमानतः आठवीं शताब्दी के थे जिनके शिष्य पुष्पदन्त थे और पुष्पदन्त के शिष्य कुवलयचन्द्र और उनके शिष्य गणधरकीर्ति हुए, जिन्होंने आचार्य सोमदेव की "अध्यात्मतरंगिणी" पर संस्कृत टीका विक्रम संवत् ११८९ में भी लिखी थी[११]। पं. शिवाभिराम ने "चन्द्रप्रभपुराण" की प्रशस्ति में भद्रबाहु, समन्तभद्र, अकलंकदेव, जिनसेन और गुणभद्र के साथ पद्मनन्दि का उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती आचार्यों में भी पद्मनन्दि प्रसिद्ध आचार्य हो गए हैं। इसलिए उनसे भिन्नता व स्पष्ट छाप बनाये रखने के लिए आचार्य पद्मनन्दि प्रथम कुन्दकुन्द आचार्य के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इस अध्ययन से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—

(१) कोणकोण्डल या कालनुकोण्डा में रहने वाले आचार्य पद्मनन्दि प्रथम थे, लेकिन उनकी प्रसिद्धि 'कोण्डकुन्द' के नाम से थी।

(२) आचार्य कुन्दकुन्द प्राचीनतम आचार्यों में से एक थे। वे एक अंग के एक देश (पाहुडों) के धारक तथा वस्तुओं के ज्ञाता थे। इसका अन्तरंग प्रमाण यह है कि उन्होंने "पंचगुरुभक्ति" में द्वादशांग के वेत्ता आचार्यों की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्तुति की है। एक या दो अंग के पाठी आचार्यों की स्तुति उन्होंने नहीं की। इसी प्रकार साधुओं में धर्मध्यानी का नहीं, किन्तु धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान को प्राप्त साधुओं का स्मरण किया है। कहा भी है— "आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं" अर्थात् आचरांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश करने वाले उपाध्याय जो ग्यारह अंग रूपी श्रुतसागर के पारगामी हैं (भक्तिसंग्रह, गा. ८) तथा चौदह पूर्वों के पाठी हैं।

(३) इस अध्ययन से यह भी निश्चित हो जाता है कि किसी भी ऐतिहासिक घटना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। क्योंकि काल-क्रम की दृष्टि से वे इतने प्राचीन हैं कि जितनी घटनाएँ प्रकाश में आई हैं या कुन्दकुन्द अथवा पद्मनन्दि के साथ जोड़ दी गई हैं उनसे उनका वास्तव में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था।

पद्मनन्दि की भाँति कुन्दकुन्द नाम के भी कई मुनि हो गये। उन सबकी जानकारी न होने से किसी ने उनको पल्लीवाल जाति का लिख दिया और उनसे अपनी जाति का सम्बन्ध जोड़ दिया, लेकिन यह भूल गये कि उस समय न तो इन जातियों का अस्तित्व था और न आचार्य कुन्दकुन्द ने उत्तर भारत में जन्म लिया था। कुन्दकुन्द नाम के चार मुनियों का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

(१) द्वितीय भद्रबाहु के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य,[१२]

(२) प्रतिष्ठापाठ के रचयिता आचार्य जयसेन के गुरु आचार्य कुन्दकुन्द,

(३) कुन्दकुन्दश्रावकाचार के रचयिता स्वामी कुन्दकुन्द,

(४) वारां (वारापुर) के मुनि कुन्दकुन्द, जिनका उल्लेख शौरीपुर की पट्टावलि में किया गया है।

ऐतिहासिक परम्परा—

इसमें कोई मतभेद नहीं है कि तीर्थंकर महावीर के संघ की अविच्छिन्न परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय तक सुरक्षित रही। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् १७०वें वर्ष में भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ, कहा जाता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य भद्रबाहु प्रथम का स्वर्गवास वीर-निर्वाण सं. के १६२वें वर्ष (३६५ ई.पू.) में माना जाता है। इन दोनों में केवल आठ वर्ष का अन्तर कहा गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्रुतधराचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य गुणधर स्मरणीय हैं। आचार्य गुणधर की भाँति आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य धरसेन श्रुत के प्रतिष्ठापक आचार्य कहे गये हैं। यद्यपि आचार्य भद्रबाहु द्वितीय का समय ई.पू. ३५ कहा जाता है, लेकिन विभिन्न पट्टावलियों के आधार पर उनका समय ई.पू. ५३-३१ ई.पू. निश्चित किया जा सकता है। क्योंकि आचार्य भद्रबाहु द्वितीय के समय में या उनके पश्चात् संघ-भेद प्रारम्भ होने लगा था। संक्षेप में, आचार्य पट्ट की ऐतिहासिक परम्परा इस प्रकार रही है[१३]—

(१) आचार्य भद्रबाहु द्वितीय ई.पू. ५३-३१ ई.पू.

(२) आचार्य गुप्तिगुप्त ई.पू. ३१-२१ ई.पू.

(३) आचार्य माघनन्दि प्रथम ई.पू. २१-१७ ई.पू.

(४) आचार्य जिनचन्द्र ई.पू. १७-०८ ई.पू.

(५) आचार्य कुन्दकुन्द ई.पू. ०८-४४ ई.

इस प्रकार इन आचार्यों ने आचार्य पद अलंकृत किया। आचार्यों की इस परम्परा में विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय आचार्य गुणधर हुए। आचार्य गुणधर के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ज्ञान सम्पूर्ण रूप से तथा प्रथम श्रुतस्कन्ध का ज्ञान आंशिक रूप से गुरु-परम्परा से आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त था। आचार्य गुणधर को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशम वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उसकी भावभंगी 'पंचास्तिकाय' आदि पाहुड ग्रन्थों में अक्षरनिबद्ध हुई है। आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शती में आचार्य धरसेन से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व कहा गया है। नन्दिसंघ की पट्टावलि में भद्रबाहु (द्वितीय), गुप्तिगुप्त, माघनन्दि, जिनचन्द्र और उनके पश्चात् कोण्डकुन्द का उल्लेख मिलता है[१४]।

पूर्वविदों की परम्परा में आचार्य गुणधर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य गुणधर ने १८० गाथाओं में 'कसायपाहुड' की रचना की थी[१५]। आचार्य धरसेन ने किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। किन्तु उनके शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने "षट्खण्डागम" की रचना कर मूल आगम रचना का प्रवर्तन किया। यह स्मरणीय है कि उनके पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द पाहुडों की रचना कर आगम व अध्यात्म का रहस्य प्रकाशित कर चुके थे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्य धरसेन के पूर्ववर्ती : आचार्य कुन्दकुन्द—

अधिकतर जैन विद्वान् अभी तक यह मानते आये हैं कि आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि "समयसार" आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानना उचित नहीं है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द "षट्खण्डागम" के रचयिता से ही नहीं, आचार्य धरसेन से भी पूर्ववर्ती हुए। इस तथ्य के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) नन्दिसंघ, मूलसंघ, शुभचन्द्र, श्रुतमुनि, प्रभृति पट्टावलियों, गुर्वावलियों, प्रशस्तियों तथा अभिलेखों से यह सुनिश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द "तत्त्वार्थसूत्र" ग्रन्थ के रचयिता आचार्य उमास्वामि के दीक्षागुरु थे[१६]। नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार मुनि उमास्वामि वीर नि.सं. ५७१ तथा वि.सं. १०१ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। अतः आचार्य उमास्वामि के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का आविर्भाव किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है। पट्टावलि के अनुसार आचार्य धरसेन का समय वीर नि.सं. ६१४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख मिलता है। प्राकृत-पट्टावलि और इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' के आधार पर आचार्य धरसेन का समय वीर नि.सं. ६०० अर्थात् ई. सन् ७३ के लगभग कहा जाता है[१७]। प्रो. ए.चक्रवर्ती ने डॉ. हॉर्नले द्वारा प्रकाशित सरस्वतीगच्छ की दिगम्बर-पट्टावलि के आधार पर कुन्दकुन्द के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने का काल ई.पू. ८ माना है और उनका जन्म ई.पू. ५२ बतलाया है[१८]।

(२) जिनागम-साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द की प्रसिद्धि गाथा-सूत्रकार के रूप में लक्षित होती है। सर्वप्रथम सूत्रकार आचार्य गुणधर हुए और उनकी ही परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का आविर्भाव हुआ। आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शती अर्थात् ई.पू. ११८ कहा जाता है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द का समय उनसे लगभग पचास वर्ष बाद भी माना जाए, तो उनकी स्थिति ईस्वी पूर्व निश्चित हो जाती है।

(३) कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने 'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका लिखी थी। यद्यपि आचार्य वीरसेन की धवला टीका में 'परिकर्म' के उद्धरण मिलते हैं, लेकिन उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह 'षट्खण्डागम' का कोई व्याख्या ग्रन्थ था[१९]। फिर भी, यह सम्भावना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकट की गई है कि परिकर्म आचार्य कुन्दकुन्द की कृति होनी चाहिए। क्योंकि इन्द्रनन्दि ने "श्रुतावतार" में यह उल्लेख किया है कि कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि उसके रचयिता थे। आचार्य वीरसेन ने तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा[४०]। अतः यह विचारणीय है।

(४) श्रवणबेलगोल के शिलालेख सं. १०५ के अनुसार कुन्दकुन्द अर्हद्बलि से पूर्व हुए थे, किन्तु धरसेन बाद में हुए।

(५) हमारा अनुभव यह कहता है कि सूत्रकार कभी टीकाकार या व्याख्याकार नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द गाथा-सूत्रकार थे; टीकाकार नहीं। तो फिर, वास्तविकता क्या है? जिस तरह जैन विद्वानों ने अलग-अलग समय में उत्पन्न चार भद्रबाहु, चार कुन्दकुन्द तथा विभिन्न पद्मनन्दि आचार्य-भट्टारकों को भ्रमवश (नाम-साम्य के कारण) एक समझ लिया, उसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य कुन्दकीर्ति को कुन्दकुन्द समझकर यह भ्रम फैल गया है। परम्परा के अनुसार बलाकापिच्छ, कुन्दकीर्ति और समन्तभद्र आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे[४१]। विबुध श्रीधर ने अपने 'श्रुतावतार' में स्पष्ट रूप से लिखा है—कुन्दकीर्ति ने कुन्दकुन्दाचार्य से दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्तकर "षट्खण्डागम" के प्रारम्भिक तीन खण्डों पर १२, ००० श्लोकप्रमाण परिकर्म ग्रन्थ की रचना की[४२]।

(६) क्या 'परिकर्म' आचार्य कुन्दकुन्द विरचित टीका हो सकती है? इस सम्बन्ध में पं. बालचन्द्र शास्त्री ने कुछ विचारणीय प्रश्न प्रस्तुत किए हैं जो इस प्रकार हैं—[४३]

(i) परिकर्म का प्रमुख वर्ण्य विषय गणितप्रधान है। अतः एक आध्यात्मिक के लिए यह सम्भव है कि वह इस प्रकार की टीका लिख सकता?

(ii) आचार्य कुन्दकुन्द की सभी रचनाएँ गाथाबद्ध हैं, इसलिए पद्य में टीका क्या सम्भव है?

(iii) इन्द्रनन्दि ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म टीका का उल्लेख किया है; जबकि धवला में उसका उल्लेख चौथे वेदना-खण्ड और पाँचवे वर्गणाखण्ड में अनेक बार किया गया है। किन्तु तीसरे खण्ड पर टीका लिखे जाने का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।

(iv) परिकर्म का उल्लेख धवला को छोड़कर अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु धवलाकार के उल्लेखों से 'परिकर्म' के कर्त्ता के नाम आदि का कुछ पता नहीं लगता है[४४]।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(v) परिकर्म का उल्लेख अंगश्रुत में किया गया है। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। इसके पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। परिकर्म के पाँच भेद कहे गये हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। इन सभी विषयों का आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः डॉ. ए.एन. उपाध्ये भी यही मत प्रकट करते हैं कि सिद्धान्त व अध्यात्म का वर्णन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द टीकाकार नहीं हो सकते[४५]। पं. भूरामलजी शास्त्री ने यह संकेत किया है कि परिकर्म आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं हो सकती है[४६]। पं. बालचन्द्र शास्त्री ने अपना स्पष्ट मत इन शब्दों में प्रकट किया है[४७] "धवलाकार ने 'वुत्तं च पंचत्थिपाहुडे' ऐसा निर्देश करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'पंचास्तिकाय' की १०० व १०७ (संख्याक दो) गाथाओं को धवला में उद्धृत किया है (धवला, पु. ४, पृ. ३१५)। इसके अतिरिक्त धवला में गुणधर, समन्तभद्र, यतिवृषभ, पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र भट्टारक आदि के नामों का उल्लेख करते हुए भी वहाँ परिकर्म के कर्त्ता के रूप में कहीं किसी का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि धवलाकार ने परिकर्म को षट्खण्डागम की टीका, और वह भी कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नहीं समझा।" धवला टीका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर्म सूत्र में द्वीप, सागर, परमाणु आदि के वर्णन में सैद्धान्तिक गणित का प्रयोग हुआ है[४८]। अतएव यही निश्चित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का वर्ण्यविषय तथा रचना-शैली सर्वथा भिन्न होने से वे परिकर्मसूत्र के रचयिता नहीं हैं। उन्होंने मुख्य रूप से पाहुड ग्रन्थों की रचना की थी।

स्थिति-काल—

प्रो. ए.चक्रवर्ती ने आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-काल लगभग ५२ ई.पू. माना है[४९]। डॉ. राजबली पाण्डेय ने विभिन्न शिलालेखों, अभिलेखों तथा पट्टावलियों के अध्ययन के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-समय १०८ ई.पू., मुनिदीक्षा-काल ई.पू. ९७-६४ ई.पू. के लगभग तथा आचार्य-काल ई.पू. ६४-१२ ई.पू. एवं समाधि-काल ई.पू. १२ के लगभग माना है[५०]। डॉ बी.एस.एल. हनुमन्थराव आचार्य कुन्दकुन्द का स्थिति-काल ईस्वी की प्रथम शताब्दी मानते हैं[५१]। डॉ ए.एन. उपाध्ये, बी. शेषगिरि राव, टी.वी.जी. शास्त्री, पी.बी. देसाई

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रभृति विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द का समय प्रथम शताब्दी ई. मानते हैं। डॉ. हीरालाल जैन ने लिखा है कि यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य कुन्दकुन्द को स्वीकार किया जाये तो उनका समय ई.पू. तीसरी-चौथी शताब्दी मानना पड़ेगा। लेकिन भाषा की दृष्टि से उन्हें ई. सन् से पूर्व नहीं माना जा सकता है[५२]। लेकिन यह सभी विद्वान स्वीकृत करते हैं कि आचार्य पूज्यपाद ने "सर्वार्थसिद्धि" में "वारसाणुवेक्खा" (आचार्य कुन्दकुन्द रचित) की कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं। अतः उनके समय की अन्तिम सीमा पाँचवी शताब्दी से आगे नहीं हो सकती[५३]। आचार्य पूज्यपाद ने "सर्वार्थसिद्धि" में द्वितीय अध्याय के 'संसारिणो मुक्ताश्च' सूत्र में 'दंसणपाहुड' की कई गाथाएँ उद्धृत की हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं।

अन्तरंग प्रमाण—

आचार्य कुन्दकुन्द पूज्यपाद के ही नहीं, उमास्वामी के भी पूर्व हुए। "तत्त्वार्थसूत्र" में द्वितीय अध्याय में 'जीव' को जो भावों से समझाया गया है और उनको 'स्वतत्त्व' कहा गया है, वह 'पंचास्तिकाय' की छाया मात्र है[५४]। इसी प्रकार उपयोग,[५५] प्राण, इन्द्रिय, लेश्या, कषाय, आदि का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को ध्यान में रखकर किया गया है। क्योंकि सात तत्त्व, छह द्रव्य, प्रमाण-नय, कर्म,[५६] धर्मध्यान, संसार के कारण, मोक्ष के कारण तथा मोक्ष आदि का वर्णन 'समयसार' आदि पाहुड ग्रन्थों के अनुसार किया गया है। "तत्त्वार्थसूत्र" का पूरा पाँचवा अध्याय 'पंचास्तिकाय', 'प्रवचनसार', आदि ग्रन्थों पर आधारित है। जिनागम के रचयिता जितने भी आचार्य हुए, उन सब पर आचार्य कुन्दकुन्द के अनेकान्त-सिद्धान्त तथा स्याद्वाद-शैली की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। उनकी प्राचीनता के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

(१) आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद किए गये हैं[५७]। आत्मा के त्रैविध्य की कल्पना कठोपनिषद् में भी की गई है जिसमें कहा गया है कि आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा ये तीन भेद होते हैं[५८]। परवर्ती आचार्यों में आचार्य पूज्यपाद, आचार्य विद्यानन्द आदि ने यह विचार आचार्य कुन्दकुन्द से ही ग्रहण किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

वारसाणुवेक्खा

(२) "वारसाणुवेक्खा" की गाथा सं. २५ जिसमें कहा गया है कि इस पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में इस जीव ने अकेले ही अनन्त बार समस्त पुद्गलों को क्रमशः भोग कर छोड़ दिया है। आचार्य वीरसेन भी यही कहते हैं कि प्रत्येक जीव एक समय में अभव्यों से अनन्त गुना तथा सिद्धों के अनन्तवें भाग पुद्गलों को भोगता है। इस पुद्गल राशि का यदि समस्त जीव राशि तथा अतीतकाल के समयों की संख्या से गुणा कर दिया जाए, तो सम्पूर्ण जीवों द्वारा अतीतकाल में भोगे गए पुद्गलों का प्रमाण निकल आता है जो कि समस्त पुद्गल राशि का अनन्तवाँ भाग है। अतः धवलाकार कहते हैं कि इस सूत्रगाथा से (वारसाणुवेक्खा, गा. २५) क्या शब्द-विरोध हो सकता है? यहाँ पर गाथा में 'सर्व' शब्द से एकदेश अर्थ ग्रहण करना चाहिए[५९]।

(३) उपनिषद् के शुद्ध, बुद्ध, ब्रह्म की भाँति आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर सम्पूर्ण विवेचन होने से कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में अद्वैत एवं अभेद की मुख्यता है। डॉ. देवनारायण शर्मा के शब्दों में "आचार्य कुन्दकुन्द जीवतत्त्व और परमात्मतत्त्व में कोई मौलिक भेद स्वीकार नहीं करते। "जीवो ब्रह्मैव नापरः" का प्रतिपादन करने वाले शांकर वेदान्त की वे एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते देखे जाते है" [६०]।

(४) पंचास्तिकाय, समयसार तथा प्रवचनसार के वस्तुवादी शुद्धात्ममूलक दार्शनिक परम्परा के वे प्रखर आचार्य थे। नागार्जुन, दिग्नाग आदि से वे बहुत पहले हुए थे। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के व्यवहार और निश्चय के समान संवृति और परमार्थ का उन्होंने विवेचन किया[६१]।

(५) मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार में महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक विषयों की समानता "षट्खण्डागम" में देखी जाती है, लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं से उनमें साम्य नहीं है[६२]।

(६) अज्झवसाण (अध्यवसान), जाणगो (ज्ञायक), वेदगो (वेदक), पच्चय (प्रत्यय), पज्जत्त (पर्याप्त), गुणट्ठाण (गुणस्थान), पयडी (प्रकृति), समयसार, विपच्चमाण, आदि पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से भी उनकी प्राचीनता का बोध होता है।

(७) "समयसार" में कई स्थलों पर सांख्य दर्शन का उल्लेख किया गया है[६३]। कहीं नामोल्लेख नहीं भी है; किन्तु विचारों से स्पष्ट है[६४]।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(८) आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वत्र केवली, श्रुतकेवली, सर्वज्ञ, जिनवर ने ऐसा कहा है—यह प्रमाण दिया है। कहीं पर उन्होंने किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। 'बोध पाहुड' में 'भद्रबाहु' का उल्लेख इसलिए किया गया है कि वे श्रुतकेवली हुए हैं।

(९) "तत्त्वार्थसूत्र" के अनेक सूत्र आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत सूत्रों की संस्कृत छाया मात्र है। उदाहरण के लिए कतिपय सूत्र हैं—

(१) देवा चउण्णिकाया, पंचास्तिकाय गा. ११८
देवाश्चतुर्णिकायाः, तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. १

(२) कालस्स दु णत्थि कायत्तं, पंचास्तिकाय गा. १०२
अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः, तत्त्वार्थसूत्र ५, १

(३) जीवा उवओगलक्खणा, पंचास्तिकाय गा. १०९
उपयोगो लक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र २, ८

(४) जीवा संसारत्था णिव्वादा, पंचास्तिकाय गा. १०९
संसारिणो मुक्ताश्च, तत्त्वार्थसूत्र २, १०

(५) सुहपरिणामो पुण्णं, पंचास्तिकाय गा. १३२
शुभः पुण्यस्य, तत्त्वार्थसूत्र ६, ३

(६) असुहो पावं, पंचास्तिकाय गा. १३२
अशुभः पापस्य, तत्त्वार्थसूत्र ६,३

(७) जीवा पुग्गलकाया म्माधम्मा तहेव आयासं। अत्थित्तम्हि- पंचास्तिकाय, गा.४
अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। तत्त्वार्थसूत्र, ५, १

(८) दव्वं सल्लक्खणियं, पंचास्तिकाय गा. १०
सद्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र ५, २९

(९) उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं, पंचास्तिकाय गा. १०
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तत्त्वार्थसूत्र ५, ३०

(१०) वट्टणलक्खो य कालो त्ति, पंचास्तिकाय गा. २४
वर्तना . . . कालस्य, तत्त्वार्थसूत्र ५, २२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(११) अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स। पंचास्तिकाय गा. ७
लोकाकाशेऽवगाहः, तत्त्वार्थसूत्र ५, १२ तथा ५, १८

(१२) उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो। पंचास्तिकाय गा. ४०
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः, तत्त्वार्थसूत्र २, ९

(१३) णिद्धा वा लुक्खा वा . . . . बज्झंति, प्रवचनसार, २, ७३
स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः, तत्त्वार्थसूत्र ५, ३३

(१०) आचार्य कुन्दकुन्द के समय में जिनागमों का लेखन प्राकृत भाषा मे ही प्रचलित था। आचार्य उमास्वामी ने सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में सूत्रों की रचना की।

(११) बोलचाल की प्राकृत भाषा में रचनाएँ होने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द प्राचीन ठहरते हैं।

बहिरंग प्रमाण—

(१) श्रवणबेलगोल के शिलालेख सं. १०५ में यह उल्लेख है कि आचार्य कोण्डकुण्ड के अन्वय के मूल संघ को आचार्य अर्हद्बलि ने चार संघों में विभक्त किया[६५]। अतः आचार्य कुन्दकुन्द की स्थिति अर्हद्बलि से पूर्व सिद्ध होती है। नन्दिसंघ की पट्टावलि से भी इसकी पुष्टि होती है।

(२) आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा को ध्यान में रखकर पुरातात्त्विक प्रमाण के आधार पर बी. शेषगिरि राव ने उनका समय प्रथम शताब्दी अनुमानित किया है[६६]।

(३) पं. जुगलकिशोर मुख्तार के शब्दों में "इसलिए कुन्दकुन्द का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी तो हो सकता है, परन्तु तीसरी या तीसरी के बाद का समय किसी भी तरह नहीं बनता[६७]।"

(४) डॉ. लालबहादुर शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में कुन्दकुन्द का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है[६८]।

(५) ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक दृष्टि से कुन्दकुन्द का जन्म दक्षिण भारत के सातवाहनवंशीय राजाओं के समय में हुआ था। कुछ इतिहासकार सातवाहनों की उत्पत्ति तीसरी शती ई.पू. के उत्तरार्द्ध अथवा दूसरी शती ई.पू. के प्रारम्भ में रखते हैं[६९]। यह वही युग था जिसमें कलिंग से लेकर आन्ध्रप्रदेश तक भाषा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की दृष्टि से जैन शासकों में तालमेल परिलक्षित होता है। कलिंग के सम्राट् खारवेल का समय ई.पू. १७६ कहा जाता है। यह उत्तर भारत में पुष्यमित्र शुंग का समकालीन था तथा दक्षिण में शातकर्णि प्रथम का समसामयिक था।

(६) दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश में ई.पू. ५०-१०० ई. तक का युग शकों तथा सदों का कहा गया है। सद चेदिवंश के राजा कहे गये हैं जिनका राज्य दक्षिण भारत में कृष्णा घाटी तक विस्तृत था। वड्डमानु की खुदाई से जो तथ्य प्रकाशित हुए हैं उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह एक महान संक्रमण तथा परिवर्तन का युग था। नहपान की विजय के पश्चात् दक्षिण भारत का आन्ध्रप्रदेश धार्मिक तथा सामाजिक चेतना की दृष्टि से बहुत आहत हो चुका था[७०]। ऐसे समय में वहाँ पर जन्म लेकर कुन्दकुन्द ने मानवीय चेतना को अध्यात्म की धरा पर जाग्रत किया था।

(७) वड्डमानु (ई.पू. द्वितीय शताब्दी—प्रथम ईस्वी) की खुदाई से उपलब्ध शिलालेखों में जो कि सर्वप्राचीन माने जाते हैं, तीर्थंकर महावीर, अरनाथ एवं नेमिनाथ के नामों का उल्लेख मिलता है। ये शिलालेख मूलसंघ से सम्बन्धित माने जाते हैं। मूलसंघ तीर्थंकर महावीर के समय से प्रचलित रहा है[७१]। आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघ के अग्रणी थे। पीटर्सन कुन्दकुन्द को प्रसिद्ध तथा पुरातन पुरुष मानते हैं[७२]। दक्षिण भारत के इतिहास में वे एक पूज्य पुरुष हुए हैं। बस्तिहल्ली के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है।

(८) अधिकतर विद्वानों का यह बहुमत है कि कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में रहे हैं[७३]।

(९) षट्खण्डागम के टीकाकारों में आचार्य कुन्दकुन्द के परम्परागत शिष्यों में समन्तभद्र स्वामी का नाम उल्लेखनीय है जो उनसे लगभग दो सौ वर्षों के पश्चात् हुए थे।

पुरातत्त्ववेत्ता पं. कल्याणविजयगणि कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी सदी का मानते हैं। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) जयसेनाचार्य लिखते हैं कि पंचास्तिकाय की रचना शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए की गई थी, किन्तु यह निश्चित नहीं है कि वे किस वंश के राजा थे? परन्तु ई.पू. द्वितीय शताब्दी के वड्डमानु के शिलालेख में उल्लिखित सोमक या सिमुक (सातवाहन वंशीय) राजा से उनका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है[७४]।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(२) आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बोधपाहुड' की गाथाओं में आयतन, चैत्यगृह और प्रतिमा की चर्चा की है। प्रथम शती ई.पू. के खारवेल के अभिलेख में जिनप्रतिमा का उल्लेख है। चौथी शती ई.पू. तक की जिन प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। खारवेल के हाथिगुम्फा लेख में अरहंतनिसिदिया, देवायतन, आदि शब्द मिलते हैं[७५]। 'चैत्य' तथा 'स्तूपों' का निर्माण मौर्यकाल में होने लगा था। शालिहुण्डम् से प्राप्त ब्राह्मी शिलाफलक लेख की एक पंक्ति का अनुवाद सरकार 'धर्मराज अशोक का चैत्य' करते है[७६]। पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित ई.पू. द्वितीय शताब्दी के एक आयागपट्ट में उत्कीर्ण शिलालेख में निर्ग्रन्थ-अर्हतायन (चैत्यवास) में एक अर्हत्-मन्दिर समर्पित किए जाने का उल्लेख है[७७]। पुरातत्त्वविद् यक्ष-आयतनों एवं यक्ष-चैत्यों का उल्लेख करते हैं[७८]। कीजवलबु (ई.पू. द्वितीय) के ब्राह्मी अभिलेख में एक श्रावक द्वारा चैत्यवास की स्थापना का उल्लेख है[७९]।

"समयसार" में उल्लेख है कि लौकिक मत यह है कि विष्णु देहधारियों का निर्माण करता है[८०]। इस पर से यह कहना कि वैष्णव सम्प्रदाय की उत्पत्ति तीसरी शताब्दी में हुई; वास्तविक नहीं है। क्योंकि विष्णु की कई मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं जो प्रथम शताब्दी तक की हैं। बलराम की सबसे पुरानी मूर्ति ई.पू. दूसरी शती की है[८१]। आचार्य कुन्दकुन्द ने शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध नामों का जो उल्लेख किया है [८२] उससे यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि वे पौराणिक काल में हुए थे[८३]। यह तो इतिहास की पुस्तकों से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के पूर्व दक्षिण भारत में शैव मत तथा वैष्णव मत प्रचलित था। विष्णु वैदिक काल के देवता माने जाते हैं। अतः इन शब्दों के तथा भट्टार, गण आदि शब्दों के नामोल्लेख के आधार पर कुन्दकुन्द को पाँचवी या छठी शताब्दी का नहीं माना जा सकता है। क्योंकि शिव, विष्णु, आदि पौराणिक काल के देवता नहीं है[८४]। यह भी एक तर्क दिया गया है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थान पर 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है जो पाँचवी सदी के बाद का पारिभाषिक शब्द है[८५]। यथार्थ में ये सभी तर्क शब्दों के उल्लेखों पर आधारित हैं। यह एक तथ्य है कि सभी तीर्थंकरों के गणधर हुए हैं। जब गणधर थे तो गण और संघ भी थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'गण' शब्द का प्रयोग समूह या संघ के अर्थ में किया है[८६]। आचार्य वट्टकेर ने भी "मूलाचार" में श्रमणसंघ के अर्थ में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है[८७]। वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द के समय में गण, गच्छ, शिव, विष्णु, आदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शब्द तो प्रचलित थे; लेकिन गच्छ-भेद आदि सम्प्रदाय नहीं बने थे। अतः गण-भेद, गच्छ-भेदों से उनका सम्बन्ध जोड़ना एक भ्रम उत्पन्न करना मात्र है। आचार्य कुन्दकुन्द का गण-गच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं था। जिस तरह से पद्मनन्दि नाम के भ्रम से मन्त्र के बल से पाषाण-प्रतिमा में बलपूर्वक सरस्वती देवी को बुलाने की घटना उनके साथ जोड़ दी गई है, उसी तरह सरस्वती के गच्छ और बलात्कार गण भी इसी घटना से सम्बद्ध हैं जो पन्द्रहवी शताब्दी के भट्टारक पद्मनन्दि के चमत्कारिक क्रिया-कलापों से युक्त हैं। संघ-भेद का सूत्रपात आचार्य अर्हद्बलि के समय में हुआ। उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुप्त, सिंह, चन्द्र, आदि नामों से विभिन्न संघ स्थापित किए[८८]। अतः आचार्य कुन्दकुन्द आम्नाय या अन्वय के साथ गण-गच्छादि का जो उल्लेख किया जाता है वह भ्रमवश समझना चाहिए। आचार्य अर्हद्बलि के अनन्तर इन संघों में बलात्कार, पुन्नाट, देशीय, काणूर आदि गण तथा सरस्वती, पारिजात, पुस्तक, आदि गच्छ स्थापित हुए[८९]।

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है[९०]—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

अर्थ है—जो रस रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुण से युक्त है, शब्द रहित है, इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, उसे जीव जानें।

'ब्रह्म' की व्याख्या में लगभग यही शब्दावली "कठोपनिषद्" में प्रकट की गई है। यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥१५॥

रचनाएँ—

आचार्य गुणधर की भाँति आचार्य कुन्दकुन्द ने भी पाहुड ग्रन्थों की रचना की थी। तीर्थंकर महावीर की वाणी द्वादश अंगों में निबद्ध कही जाती है। बारह अंग अति विस्तीर्ण कहे गये हैं जो मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। इसके पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका। पूर्व के १४ भेद हैं। उनमें ज्ञानप्रवाद पाँचवाँ पूर्व है। इसके वस्तु नामक १२ अवान्तर अधिकार हैं। उनमें भी दसवीं वस्तु के अन्तर्गत 'पाहुड' नाम के २० अर्थाधिकार हैं। उनमें तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्जदोसपाहुड' है जिसे गौतम गणधर ने १६ हजार मध्यम पदों में रचा था। उसका सार आचार्य गुणधर ने केवल २३३ गाथाओं में निबद्ध किया। १८० गाथाओं में तो उन्होंने 'कसाय पाहुड' का उपसंहार किया था।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वादशम अंग के वस्तुओं के ज्ञाता थे। चूँकि वस्तुओं की रचना पाहुडों में हुई थी जिसे इन्द्रभूति गौतम ने गूँथा था, वही परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही। अतः उसी क्रम में उन्होंने ८४ पाहुड-ग्रन्थों की रचना की। यद्यपि सभी पाहुड आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु जो रचनाएँ मिलती हैं उनसे भी यह अनुमान व निश्चय हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने पाहुडों के सिवाय कोई रचना नहीं की। 'पाहुड' का अर्थ है—तीर्थंकर के द्वारा प्रस्थापित, पदों से स्फुट व्याख्यान[११]।

चौरासी पाहुडों में से जिनके नामोल्लेख किए गए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं[१२]—अंगपाहुड, अष्टपाहुड, आचारपाहुड, आलापपाहुड, आहारणा, उघात, उत्पाद, एयम, कर्मविपाक, क्रम, क्रियासार, क्षपणा, चरण, चूर्णि, चूली, जीव, जोणिसार, तत्त्वसार, दिव्य, दृष्टि, द्रव्य, नय, निवाय, नियमसार, नोकर्म, पंचवर्ग, पंचास्तिकाय, पयत्थ, पुण्ण, पयडि, प्रमाण, प्रवचनसार, बन्ध, बुद्धि, बोधि, भावसार, रयणसार, लब्धि, लोक, वस्तु, विद्या, विहिया, शिक्षा, दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग, सीलपाहुड, समयसार, समवाय, संस्थान, पयत्थपाहुड, थाणपाहुड, पयपाहुड, आराहणा, क्रियासार, आदि। इनमें से तेरह पाहुड आज उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं—

(१) पंचात्थिकाय संगहो, (२) समयसारो, (३) पवयणसारो, (४) णियमसारो, (५) रयणसारो, (६) दंसण, (७) सुत्त, (८) चारित्त, (९) बोध, (१०) भाव, (११) मोक्ख, (१२) लिंग एवं (१३) सील पाहुड।

इनके अतिरिक्त "वारसाणुवेक्खा" (द्वादशानुप्रेक्षा) एवं दशभक्तियाँ भी आचार्य कुन्दकुन्द विरचित कही गई हैं। प्रभाचन्द्र ने "सिद्धभक्ति" की संस्कृत टीका में लिखा है कि संस्कृत की ये सभी भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी कृत हैं और प्राकृत की आचार्य कुन्दकुन्द रचित हैं[१३]।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दशभक्तियों के नाम है—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचपरमेष्ठीभक्ति, तीर्थंकर भक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, शान्तिभक्ति।

इनमें से आज "रयणसार" जिस रूप में उपलब्ध है वह भाषा, विषय, आदि की दृष्टि से मौलिक रचना नहीं मानी गई है, क्योंकि उसमें प्रक्षिप्त अंश अधिक है। गाथाओं की संख्या तथा क्रम निश्चित नहीं है। अतः पं. जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. आ.ने. उपाध्ये, पं. परमानन्द शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य प्रभृति विद्वान् उसे आचार्य कुन्दकुन्द की रचना स्वीकार नहीं करते हैं।

सम्प्रति यह सुनिश्चित हो गया है कि "मूलाचार" आचार्य वट्टकेर की रचना है। क्योंकि मूलाचार की टीकाओं में तथा पुष्पिकाओं के अन्त में वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य, वट्टेरकाचार्य नामों का उल्लेख मिलता है। अतः मूलाचार कुन्दकुन्द की रचना नहीं है [१४]। भाषा तथा रचना-शैली की दृष्टि से भी यह रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से मेल नहीं खाती है।

इसी प्रकार 'थिरुक्कुरल' भी आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं है। यद्यपि स्व. प्रो. ए. चक्रवर्ती ने इसे एलाचार्य (कुन्दकुन्द) की तमिल कृति माना है, किन्तु जिस वेन्ब छन्द में 'थिरुक्कुरल' की रचना उपलब्ध है, उसका प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द की किसी भी रचना में नहीं मिलता है। भावों की दृष्टि से भी यह आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों से मेल नहीं खाती है। इसलिए यही प्रतीत होता है कि एलाचार्य 'नाम' देखकर आधुनिक युग में भ्रमवश इसे आ. कुन्दकुन्द की रचना मान लिया गया है। वास्तव में आ. कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेकान्त का जो वर्णन तथा विश्लेषण एवं स्याद्वाद शैली की छाप परिलक्षित होती है उसका 'थिरुक्कुरल' में अभाव है। यह तो निश्चित है कि यह एक जैन लेखक की रचना है, किन्तु इसे कुन्दकुन्दाचार्य की रचना प्रमाणित करने के लिए अन्य प्राचीन प्रमाणों की आवश्यकता है[१५]। डॉ आ.ने. उपाध्ये ने भी यह प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया है कि यदि एलाचार्य की परिचिति आचार्य कुन्दकुन्द से हो, तभी यह सम्भव है[१६]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा में चौरासी पाहुडों की रचना की थी। वन में ताड़पत्रों पर रचना कर वे किसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वृक्ष की कोटर में अपनी रचना छोड़ देते थे। अत उनमें से आज कुछ (तेरह) ही पाहुड अवशिष्ट हैं। ८४ पाहुडों के नाम भी ठीक-से नहीं मिलते। सम्भव है कुछ अन्य पाहुड खोजने पर उपलब्ध हो जायें।

वर्ण्य-विषय—

विश्व के वाङ्मय में भेद-विज्ञान कराने वाला कोई शास्त्र है, तो उसका नाम है—समयसार। यह भेद-विज्ञान क्या है और इसकी क्या आवश्यकता है? आचार्य कुन्दकुन्द को इस प्रकार का शास्त्र क्यों लिखना पड़ा? तरह-तरह के प्रश्न विचारक के सामने आ जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'भेद-विज्ञान' शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में नहीं मिलता है। किन्तु यह भी यथार्थ है कि भेदविज्ञान की भूमिका और उसके स्वरूप का दर्शन भी संकेत रूप से उनके "समयसार" में ही मिलता है। जहाँ आचार्य यह कहते हैं – उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है; क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है; वहाँ पर (समयसार, गा. १८१-१८३) हमें दो भिन्न सत्ताओं का ही बोध होता है। आचार्य अमृतचन्द्र टीका में अत्यन्त स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में एक ही वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न होने से दोनों की सत्ता एक नहीं है। और जब दोनों की सत्ताएं भिन्न-भिन्न हैं, तब उनमें परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना ही उसका आधार-आधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान की जानन क्रिया अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है, जानन क्रिया का ज्ञान से अभिन्नपना होने से वह ज्ञान में ही है; क्रोधादिक भी क्रोधादि क्रिया का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से तथा क्रोधादि से अभिन्नपना होने से क्रोधादिक में ही हैं।" (यहाँ पर ज्ञान का स्वरूप जानन क्रिया है, इसलिए ज्ञान आधेय है और जानन क्रिया आधार है। जानन क्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जानन क्रिया और ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं है।) आचार्य जयसेन के शब्दों में "ज्ञान और दर्शनरूप उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है। अतः अभेदविवक्षा से यहाँ पर 'उपयोग' शब्द से आत्मा को लिया गया है। उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा में ज्ञान-दर्शन-स्वरूप-उपयोग मात्र है, उसमें क्रोधादि विकार भाव नहीं होते हैं। शुद्ध निश्चयनय से क्रोधादि परिणामों के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने पर कोई भी उपयोग अर्थात् आत्मा नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञान और दर्शनरूप चेतना के परिणमन का नाम उपयोग कहा जाता है, जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथाओं की टीका लिखते हुए भेदविज्ञान को सिद्ध किया है। उक्त टीका का अनुगमन आचार्य जयसेन ने किया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाता है, तब अन्य द्रव्यों में उस आकाश को आरोपित करने का निषेध होने से बुद्धि में किसी भिन्न आधार की अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती। अतः यह समझ लिया जाता है कि एक ही आकाश एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है। और ऐसा समझ लेने पर आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता। इस प्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाए, तो ज्ञान का शेष अन्य द्रव्यों में निषेध होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा उत्पन्न नहीं होती और इसलिए "एक ही ज्ञान एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भलीभाँति समझ लेने पर आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। इसलिये ज्ञान ही ज्ञान में है और क्रोधादिक क्रोधादिक में ही है"—यह भेदविज्ञान भलीभांति सिद्ध हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने आप को नहीं जानने वाले को अज्ञानी कहा है। अनेक तरह के मत वालों को उन्होंने केवल एक शब्द में समेट लिया है और वह है—अध्यवसान। उनके ही शब्दों में "आत्मा को नहीं जानते हुए पर को आत्मा कहने वाले कोई मूढ़ अज्ञानी अध्यवसान को और कोई कर्म को जीव कहते हैं। अन्य कोई नोकर्म (शरीरादि) को जीव मानते हैं; अन्य कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई तीव्रता, मन्दता सहित कर्म के अनुभाग को जीव मानते हैं, तो कोई मिले हुए कर्म और जीव के संयोग को जीव मानते हैं।" इस प्रकार अन्य अनेक दुर्बुद्धि वाले पर को आत्मा मानते हैं। लेकिन उनका कथन सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि ऐसा निश्चयवादियों ने कहा है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द परमार्थ या निश्चय को मुख्यता देते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व जिनागम में आस्रव के प्रत्ययों को 'अध्यवसान' कहने वाला कोई लक्षित नहीं होता। भारतीय साहित्य व दर्शनशास्त्रों में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परवर्तीकाल में इसका प्रयोग दिखलाई पडता है। उन्होंने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग इन चारों को अध्यवसान कहा है। उनकी मूल प्रतिपत्ति यह है कि जब तक जीव के आत्मा और कर्म की एकत्व बुद्धि है अर्थात् राग, द्वेष, मोहादि से निज शुद्धात्मा का भेदविज्ञान नहीं है, तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग रूप अध्यवसान वर्तते हैं। अध्यवसान से राग-द्वेष-मोह रूप आस्रवभाव होता है। आस्रवभाव से कर्म का बन्ध होता है। कर्म से यह शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म से संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, तब शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से अध्यवसानों का अभाव होता है और राग-द्वेष-मोह रूप आस्रव का अभाव होता है। आस्रव का अभाव हो जाने पर कर्म नहीं बंधता है और कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव हो जाता है। संवर का क्रम बताने के लिए यह वर्णन किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संवर के द्वार तक पहुँचाने वाला भेदविज्ञान है। वास्तव में जिसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'विसेसंतर' शब्द से कहा है उसे आचार्य अमृतचन्द्र, आ. जयसेन, आदि 'भेदविज्ञान' कहते हैं। 'कर्त्ताकर्म-अधिकार' के प्रारम्भ में ही वे इस रहस्य का वर्णन करते हैं कि जब तक जीव आत्मा और आस्रव इन दोनों के अन्तर तथा विशेष भेद को नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से कर्म का संचय होता है, जीव के कर्मों का बन्ध होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' भेदविज्ञान से भरा हुआ है। क्योंकि अज्ञानी जीव अज्ञानी इसीलिये है कि उसे बड़ा भारी भ्रम है; भेदविज्ञान नहीं है। किन-किन बातों का भ्रम है; सो कहते हैं—जीवद्रव्य का ऐसा स्वभाव है कि वह समस्त ज्ञेय वस्तु को जानता है, लेकिन अज्ञानी को ऐसा भ्रम है कि ज्ञान ज्ञेय रूप परिणत हो जाता है। इसी प्रकार विभाव दशा में कर्मों का संयोग होने से ऐसा मानता है कि मैं कर्मों से बंधा हुआ हूँ, लेकिन स्वरूप-विचार की अपेक्षा जीव न बद्ध है, न मुक्त है। किसी को यह भी भ्रम हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना क्रियारूप है सो बन्ध का कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का शुभ क्रियारूप यतिपना मोक्ष का कारण है—यह महान् भ्रम है। वास्तव में शुद्धोपयोग की परिणति ही मोक्ष का कारण है। शुभ भाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और शुभ क्रियाएँ कर्मबन्ध का ही कारण हैं। इस जीव के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के परिणाम अनादि काल के हैं। अतः उन परिणामों से अपने को भिन्न नहीं मानता, कितना गहन भ्रम है!

भेदविज्ञान कैसे होता है?

भेदविज्ञान का सीधा-सीदा अर्थ है—अपने-पराये का भेदज्ञान। कोई अपने को तो जाने नहीं और पर वस्तुओं में भेद करता रहे, तो उसे भेदविज्ञान नहीं कहेंगे। भेदविज्ञान में अपना ज्ञान पहले झलकना अनिवार्य है। अपने से पर की भिन्नता भासित होने पर ही सच्चा भेदज्ञान होता है। जो पर वस्तु और परभावों को ही अपने रूप समझता है, उसे भेदविज्ञान नहीं होता। वास्तव में एकत्व के विभाग का नाम भेदविज्ञान है। अनादि काल से ज्ञान और राग में जो एकता भ्रम से जान पड़ती है, उनमें ज्ञान और राग दोनों का विभाग होना भेद-विज्ञान कहलाता है। भेदज्ञान प्रकट होते ही राग की अशुद्ध परिणति पृथक् और ज्ञान गुण मात्र भिन्न-भिन्न अनुभव में आते हैं। जिस प्रकार जल और कीचड़ जिस काल में एकत्र मिले हुए हैं, उसी काल में स्वरूप का अनुभव किया जाए, तो कीचड़ जल से भिन्न है; जल अपने स्वरूप है। इस प्रकार संसार अवस्था में जीव कर्मबन्ध पर्याय रूप से एक क्षेत्र में मिला हुआ है। उस अवस्था में यदि शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया जाए, तो समस्त कर्म जीव स्वरूप से भिन्न है।

'भेदविज्ञान' की सामान्यतः तीन स्थितियों का वर्णन किया जाता है। प्रथम है-तत्त्वनिर्णयरूप। तत्त्व का निर्णय कराना भेद-विज्ञान का ही कार्य है। इस स्थिति में भेदविज्ञान विकल्परूप होता है। दूसरे, शक्ति के रूप में 'भेदविज्ञानशक्त्या' का भी बराबर उल्लेख मिलता है। तीसरे, समस्त पर द्रव्यों से भिन्न चैतन्यस्वरूप के अनुभव के रूप में प्रयोग किया गया है। भेदविज्ञान का फल यह है कि ज्ञान ज्ञान में (शुद्धोपयोग में) स्थिर हो जाता है। ज्ञान में ज्ञान का स्थिर होना दो प्रकार से कहा गया है। मिथ्यात्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान होने पर फिर मिथ्यात्व न हो, तो ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना कहा जाता है। जब ज्ञान शुद्धोपयोग में स्थिर हो जाता है और फिर अन्य विकार रूप परिणमित नहीं होता है, तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वास्तव में यह भी एक भ्रम है कि पाँचों इन्द्रियों और मन से ज्ञान होता है। परन्तु न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है, न मन से और न किसी ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है। मति श्रुतरूप जो इन्द्रिय और मन के माध्यम से वर्तते हैं, उन को उपचार से इन्द्रिय -मन- जनित कहा गया है। परमार्थ से ज्ञान तो ज्ञान से ही होता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव ही वास्तव में ज्ञान है। यह भी सुनिश्चित है कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव 'समयसार' गाथा १८४-८५ में कहते हैं—जैसे स्वर्ण अग्नि में भलीभाँति तप्त होने पर अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही ज्ञानी प्रचण्ड कर्मों के उदय से घिरा हुआ होने पर भी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता है। जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञान स्वभाव से नहीं छूटता है'। अतः कर्मों के उदय के ताप से तप्तायमान होने पर भी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता। वह तो निरन्तर शुद्धात्मा का अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह निजात्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है। इसलिए वह रागी, द्वेषी, मोही होता है, कभी भी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

यथार्थ में प्रत्येक वस्तु का साध्य-साधन उसी में निहित है। किन्तु यह भी एक भ्रम है कि बाहर के साधन से हम अन्तरंग साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। इस भ्रम को निर्मूल करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द आगे कहते हैं—शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ जीव निज शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ अशुद्धात्मा को प्राप्त करता है। इसमें न्याय यह है कि 'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है'। जो जीव अखण्ड धारावाही ज्ञान से निरन्तर निज शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उसके राग, द्वेष, मोह रूपी भावास्रव रुक जाते हैं।

यथार्थ में ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं। फिर भी, जैसे नेत्र और रूप एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते, वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते। इसलिए जब यह निर्विकल्प सत्ता मात्र वस्तु का आलम्बन ग्रहण करता है और ज्ञान को राग, द्वेष, मोहादि से भिन्न कर ज्ञान मात्र अनुभवता है, तब वह सच्चा ज्ञान है। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने जहाँ विधिलिंग में 'जाण' शब्द का प्रयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किया है वहाँ उनका अभिप्राय 'अनुभव' करने से या प्रत्यक्ष ज्ञान से है। क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान से अभिप्राय है—पर सहाय से निरपेक्ष, वेद्य-वेदक भाव से आस्वाद रूप है। आत्मा ज्ञानगुण का समूह है, ज्ञान-पुंज है। शुद्ध आत्मानुभूति मोक्षमार्ग है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव होते ही नय-विकल्प के साथ कर्मोदय से होने वाले भाव भी मिट जाते हैं। जीवस्वरूप का अनुभव ही सम्यक्त्व है। क्योंकि शुद्ध चेतना मात्र का स्वाद आए बिना अशुद्ध भाव रूप परिणाम नहीं छूटता है और बन्ध-पद्धति को समाप्त करने में शुद्ध ज्ञान का अनुभव ही समर्थ है; अन्य कोई उपाय नहीं है। अतएव भेदविज्ञान की महिमा विशिष्ट है।

ज्ञान-ज्ञेय-मीमांसा—

इस जगत् में जिसके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है, उसके मत में अवश्य ही आत्मा ज्ञान से हीन या अधिक होनी चाहिए? यदि यह मान लिया जाए कि आत्मा ज्ञान से हीन है, तो ज्ञानगुण स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की तरह अचेतन हो जायेगा और अचेतन होने से वह कुछ भी नहीं जान सकेगा। उदाहरण के लिए यदि अग्नि से उष्ण गुण अधिक माना जाये, तो अधिक उष्ण गुण अग्नि के बिना शीतल होने से जला नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान से अधिक हो तो वस्त्र, शरीर, आदि की तरह आत्मा ज्ञान के बिना कुछ जान नहीं सकता। वास्तव में चेतन और जड़ में यही अन्तर है कि चेतन में जानने, देखने की शक्ति पाई जाती है और जड़ किसी भी प्रकार से विविध संयोगी दशाओं में भी जानने, देखने की शक्ति से शून्य होता है। इस कथन से आचार्य कुन्दकुन्द यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ज्ञान आत्मा का स्वभावरूप लक्षण है। आगे २७वीं गाथा में वे कहते हैं—'ज्ञान आत्मा है, ऐसा जिनदेव का मत है। आत्मा के बिना अन्य किसी द्रव्य में ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है'।

"ज्ञान" शब्द का अर्थ—

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग चार अर्थों में दिखलाई पड़ता है। ये चार अर्थ हैं—(१) भेद-विज्ञान, (२) जानना, (३) आत्मज्ञान या रागरहित ज्ञान (४) केवलज्ञान। शिष्य प्रश्न करता है—'गुरुवर! शुद्धात्मा का ग्रहण कैसे किया जा सकता है?' आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं—'शुद्धात्मा का ग्रहण बुद्धि के द्वारा, भेद-विज्ञान के द्वारा हो सकता है'।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान किसे कहते हैं? जो जानता है सो ज्ञान है। जो ज्ञायक है वही ज्ञान है। ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है। ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक नहीं है। स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित होने से तथा ज्ञानस्वरूप होने से अर्थात् ज्ञान से भिन्न न होने से ज्ञायक ज्ञायक ही है। ज्ञान प्रकाश रूप से प्रकट है।

ज्ञान आत्मा ही है—

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है। शास्त्र में, शब्द में, रूप में, वर्ण में, गन्ध में, रस में, स्पर्श में, धर्म (द्रव्य) में, अधर्म (द्रव्य) में, काल में, आकाश में, अध्यवसान (राग, द्वेष, मोहादि) भावों में ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये सभी अचेतन हैं और ज्ञान चेतन है। यथार्थ में ज्ञानी ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान सतत जानता है। ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) है। इसलिए चेतना मात्र जीव वस्तु प्रमाण है। चेतना मात्र का आस्वाद रूप ज्ञान का नाम अनुभव है।

ज्ञान और अज्ञान—

ज्ञान मात्र जीव वस्तु है। ज्ञान सहज ही शुद्ध स्वरूप है। कर्म और कर्मफल की ओर एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना अज्ञानचेतना कहा जाता है। उससे कर्म का बन्ध होता है और वह ज्ञान चेतना रूप शुद्धता को रोकता है। क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दोनों अज्ञान रूप हैं, किन्तु ज्ञानचेतना शुद्ध ज्ञान रूप है। ज्ञान और अज्ञान में दिन-रात जैसा विरोध है। मोक्ष के कारण रूप स्वभाव सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व है जो स्वयं कर्मरूप है और जिसके उदय से ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना हो रहा है। इस प्रकार ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है— जिनेन्द्रदेव ने ऐसा ही कहा है। ज्ञान सदा काल ज्ञान ही है और ज्ञायक ज्ञायक मात्र है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में "ज्ञानी सदा ज्ञानमय एक भाव में रहता है। ज्ञानवाला अशुद्ध भाव करने से अज्ञानी हो जाता है, किन्तु ज्ञायक निरास्रव रहता है। जीव के अशुद्ध रागादि परिणाम को सच्चा आस्रवपना घटता है। किन्तु शुद्ध चैतन्य प्रकाश के उदित होने पर अतीत, अनागत, वर्तमान पर्याय सहित जितनी भी वस्तुएँ हैं वे ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने लगती हैं। उस समय प्रकाश स्वरूप वह वस्तु सकल ज्ञेय वस्तुओं को जानती हुई भी तन्मय, तद्रूपी नहीं होती, अपने स्वरूप रहती है"।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान-अनुभव—

वास्तव में आत्मा का अनुभव शुद्ध ज्ञान का ही अनुभव है। शुद्ध ज्ञान का अर्थ है- राग, द्वेष से अमिश्रित। शुद्ध ज्ञान का स्वाद लेना ही ज्ञान का स्वाद लेना, ज्ञान या आत्मा का अनुभव है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में- "ज्ञानानुभूतिरियमेव।" अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। अनुभव होने पर प्रमाण, नय, आदि का विकल्प नहीं रहता; किसी भी प्रकार के स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि परिणाम नहीं रहते। अनुभव निर्विकल्प है। इसलिये ज्ञान मात्र अनुभवना योग्य है। अनुभव काल में ज्ञान की पर्याय वस्तु स्वरूप होने से शुद्ध कही गई है। अतः शुद्ध स्वरूप के अनुभव के समय जीव काष्ठ के समान जड़ नहीं होता और न सामान्य विकल्पियों के समान विकल्पी होता है; क्योंकि वह निर्विकल्प वस्तु का अवलम्बन लेता है।

अध्यात्मशास्त्र में ज्ञान की प्रधानता है, क्योंकि आत्मा का अधिकार है। ज्ञान लक्षण ही सब पर द्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यह किसी भी अवस्था में अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं त्यागता है। वास्तव में ज्ञान आत्मा के बिना अपना अस्तित्व नहीं रखता है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मों का अधिष्ठान है, लेकिन ज्ञानधर्म के द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्म के द्वारा अन्य (सुखादि) भी है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। ज्ञान से ही आत्मा की पहचान की जाती है।

ज्ञान सर्वव्यापी है—

ज्ञान को दर्पण की उपमा दी जाती है। जिस प्रकार दर्पण में मोर, अग्नि, पर्वत, आदि प्रतिबिम्ब निश्चय से दर्पण की ही अवस्थाएं हैं; न तो कोई मोर आदि पक्षी दर्पण में आकर बैठते हैं और न दर्पण ज्ञेयों में प्रविष्ट होकर उनको झलकाता है, परन्तु दर्पण की स्वच्छता का ऐसा परिणमन है कि सम्पूर्ण ज्ञेयाकारों का प्रतिबिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित होता है। पदार्थों के ज्ञेयाकारों के निमित्त से ज्ञान में ज्ञान की अवस्था रूप ज्ञेयाकार होते हैं। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्वव्यापी नहीं हो सकता। सबको अलग-अलग गिनने में या जानने में कोई समर्थ नहीं है। इसलिए सर्वज्ञता या ज्ञान की सर्व व्यापकता ज्ञेयाकारों के आश्रित नहीं है। पदार्थ साक्षात् स्व ज्ञेयाकारों के कारण हैं; और परम्परा से ज्ञान की अवस्था रूप ज्ञेयाकारों (ज्ञानाकारों) के कारण हैं। ज्ञेयाकारों को ज्ञान में देख

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर, कार्य में कारण का उपचार कर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि पदार्थ ज्ञान में हैं। ज्ञान के कारण ही आत्मा की सर्व व्यापकता का कथन किया जाता है। वस्तुत ज्ञान की यथार्थता ज्ञान से ही है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय लोक-अलोक सभी हैं। अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा सर्व व्यापक कहा जाता है। यदि आत्मा ज्ञान के बराबर न हो, तो उससे बड़ा या छोटा होगा। यदि आत्मा ज्ञान से छोटा है, तो आत्मा से बाहर का ज्ञान अचेतन ठहरेगा और ऐसी दशा में वह कैसे जान सकेगा? यदि आत्मा ज्ञान से बड़ा है, तो ज्ञान से बाहर का आत्मा ज्ञानहीन होने के कारण किस प्रकार जान सकता है? अतएव ज्ञानमय होने के कारण केवलज्ञानी भगवान् सर्वगत या सर्वव्यापी हैं, यह कहना उचित है। जगत् के सभी पदार्थ आत्मज्ञांन के विषय होने के कारण आत्मगत हैं। यद्यपि आत्मा ज्ञानस्वभाव है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं, फिर भी जैसे नेत्र और रूप एक दूसरे के भीतर प्रवेश नहीं करते, वैसे ही ज्ञान ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता। लेकिन प्रविष्ट हुए बिना ज्ञानी सम्पूर्ण जगत् को भलीभाँति जानता और देखता है। लोक में जैसे दूध में डूबा हुआ इन्द्रनील मणि अपने प्रकाश से दूध को व्याप्त कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान पदार्थों को व्याप्त कर देता है। यदि पदार्थ ज्ञान में न होते तो ज्ञान सर्वगत या सर्व व्यापक नहीं कहलाता। केवली भगवान् ज्ञेय पदार्थों को न तो ग्रहण करते हैं, न त्यागते हैं और न उन पदार्थों के रूप में परिणत होते हैं, फिर भी वह सम्पूर्ण रूप से सब कुछ जानते हैं।

ज्ञानबन्ध का कारण नहीं—

वास्तव में सर्वज्ञ का ज्ञान ही यथार्थ व पूर्ण ज्ञान है। जो तीन लोकों और तीनों कालों के सब पदार्थों को एक साथ नहीं जान सकता, वह सम्पूर्ण अनन्त पर्यायों सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता। फिर, वह अनन्त द्रव्यों को एक साथ क्या जानेगा? ज्ञानी का ज्ञान यदि पदार्थों के आलम्बन से क्रमपूर्वक उत्पन्न होता है, तो वह ज्ञान नित्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अल्पज्ञानी में और पूर्णज्ञानी में यह अन्तर है कि अल्पज्ञान की अवस्था में ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से क्रमपूर्वक उत्पन्न होता है; जबकि केवलज्ञानी का ज्ञान 'युगपत्' होता है। सर्वज्ञ एक साथ सब द्रव्यों को और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनकी पर्यायों को एक साथ जानने-देखने वाले हैं। केवलज्ञानी उनमें राग-द्वेष नहीं करता, किन्तु अल्पज्ञानी राग द्वेष किए बिना नहीं रहता—यह अन्तर विशेष है। जहाँ-जहाँ राग-द्वेष है वहाँ-वहाँ बन्ध है। किन्तु जहाँ समता भाव है, वहाँ किसी प्रकार का बन्ध-बन्धन नहीं होता। ज्ञान किसी भी दशा में बन्धन का कारण नहीं है, मोह के कारण बन्धन की दशा को प्राप्त होता है। वास्तव में अज्ञानता से राग-द्वेष-मोह होता है। उससे ही भ्रम होता है। अपने को जानने-पहचानने के लिए सबसे पहले भ्रम को दूर करना आवश्यक है। तत्त्वज्ञान ही उसका सुगम तथा सहज उपाय है। यह ज्ञान का ही माहात्म्य है कि पराई वस्तु को भ्रम से अपनी समझने वाला व्यक्ति भ्रम दूर होते ही उसे तुरन्त त्याग देता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष परभावों को पराया जान कर उनका त्याग कर देते हैं। जो परभाव को अपना माननां त्याग देता है, वह परवस्तु को अपनी कैसे मान सकता है? वास्तव में ज्ञान ही सदाचरण की ओर ले जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार की गाथा सं. ३२० में कहते हैं—जैसे चक्षु अग्निरूप दृश्य को देखता है, किन्तु जलाने वाले पुरुष के समान वह उसे जलाती नहीं। इसी प्रकार तप्तायमान लोहपिंड के समान वह उसे अनुभव से वेदता, भोक्ता भी नहीं है। उपादान रूप से वह अन्य द्रव्यों का न तो कर्त्ता है, न वेदता है और न अनुभवता है अथवा दूसरा पाठ है—"दिट्ठी सयंपि णाणं" इसका अर्थ यह है कि केवल दृष्टि ही नहीं, किन्तु क्षायिकज्ञान भी निश्चय रूप से कर्मों का कर्त्ता, वेदता और अनुभवता नहीं है। जैसे नेत्र पर का कर्त्ता या भोक्ता नहीं है, वैसे ही क्षायिकज्ञान निश्चय में दया, दान, आदि विकल्पों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, अकारक, अवेदक ही है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में .... "किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यतिः .... न करोति न वेदयते च .... केवलमेव जानाति।" अर्थात्-किन्तु केवल दर्शन मात्र स्वभाव वाला होने से वह नेत्र सबको मात्र देखता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं देखने वाला होने कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने व वेदने में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता है, किन्तु केवलज्ञान मात्र स्वभाव वाला होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर्यायों में ज्ञान नहीं–

वस्तुतः ज्ञेय की आकृति रूप परिणमती हुई जितनी ज्ञान की पर्यायें हैं उनसे ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। किन्तु अज्ञानी जीव ज्ञेय के आलम्बन के अभिप्राय से उनको जानते समय ही भ्रम से उनमें ज्ञान मात्र वस्तु की सत्ता का अनुभव करता है। परन्तु जीव के ज्ञान गुण की पर्याय उन सबसे सर्वथा भिन्न है। ज्ञान मात्र जीव वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय की शक्ति को जानता हुआ उसकी आकृति रूप परिणमन करता है; परन्तु ज्ञेय की शक्ति ज्ञेय में है; ज्ञानवस्तु में नहीं है। ज्ञान पर वस्तु में कभी नहीं होता। ज्ञान तो जानने रूप पर्याय है। इसलिये ज्ञानवस्तु की सत्ता भिन्न है। उस सत्ता को ज्ञान वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु में या उनकी पर्याय में नहीं खोजा जा सकता।

समयसार कलश, १४० की व्याख्या करते हुए पं. राजमलजी पाण्डेय कहते हैं–"ज्ञान चेतनाप्रकाश मात्र है। समस्त ज्ञेयवस्तु को जानने का स्वभाव है, इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है, जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है। इससे ज्ञानी जीव को ऐसी बुद्धि उपजती है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे भेदविकल्प सब झूठे हैं। ज्ञेय की उपाधि से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे विकल्प उपजे हैं। कारण कि ज्ञेय वस्तु नाना प्रकार हैं। जैसे ही ज्ञेय का ज्ञायक होता है वैसा ही नाम पाता है। वस्तु-स्वरूप का विचार करने पर ज्ञान मात्र है। नाम धरना सब झूठा है। ऐसा अनुभव शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। विकल्प जितने हैं उतने समस्त झूठे हैं, क्योंकि विकल्प कोई वस्तु नहीं है, वस्तु तो ज्ञान मात्र है। उसे ही ज्ञानस्वरूप भगवान् भी कहते हैं।"

ज्ञेय-ज्ञायक विषयक भ्रान्ति–

ज्ञानवस्तु पर्याय रूप से ज्ञेयाकार होती है, लेकिन दृष्टि में पर्याय रूप भेद नहीं है, उसकी दृष्टि भ्रान्तिमय होने से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह समस्त ज्ञेय को ज्ञानवस्तु रूप मानता है। परन्तु ज्ञेयवस्तु ज्ञेय रूप है; ज्ञान रूप नहीं है। वास्तव में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के विषय में ऐसा ही आभास होता है कि जैसे-जैसे ज्ञेय बदलते जाते हैं, वैसे ही ज्ञान की क्रिया बदल जाती है। किसी चित्रपट पर बदलते हुए दृश्यों की तरह क्या ज्ञान की चित्रावली भी खण्ड-खण्ड हो रही है? प्रत्येक क्षण में ऐसा भ्रम होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न यह है कि यह भ्रम क्यों होता है? वस्तुतः ज्ञानक्रिया ज्ञानस्वभाव से नित्य एकत्व को प्राप्त है। लेकिन हमें यह विश्वास नहीं है। अज्ञानता के कारण हमें यह भ्रम हो गया है कि ज्ञेय से ज्ञानक्रिया का एकत्व है। एकत्वबुद्धि ही हमें धोखा दे रही है। जैसे इन्द्रियों से ज्ञानक्रिया की एकत्वबुद्धि है, वैसे ही पर में, ज्ञेय में एकत्वबुद्धि है। दो में भेद-विज्ञान न होने से एकपना भासित हो रहा है, यही भ्रम है। ज्ञेयों के जानने रूप ज्ञान की क्रिया प्रत्येक समय में प्रकाशित होने से और ज्ञेय के बिना ज्ञेय का ज्ञान न होने से और ज्ञेय के परिवर्तन से ज्ञानक्रिया में परिवर्तन भासित होने से जन सामान्य को यही भ्रम होता है कि हम जिस ज्ञेय को जानते हैं, वही ज्ञान का कारण है। लेकिन आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं (समयसारकलश, २७१)—"ज्ञान मात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है। वह स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है। ज्ञान मात्र भाव ज्ञातृक्रिया रूप होने से ज्ञानस्वरूप है। वह स्वयं ही ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं। वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान में ज्ञेयों के आकार की झलक पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप भासित होता है, परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञान मात्र भाव ही ज्ञेय रूप है। स्वयं अपना जानने वाला होने से ज्ञान मात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञान मात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु है। ऐसा ज्ञान मात्र भाव मैं हूँ—इस प्रकार अनुभव करने वाला अनुभवी पुरुष है।" पं. राजमलजी के शब्दों में— जो कोई चेतना सर्वस्व ऐसा वस्तु स्वरूप हूँ। अपने से भिन्न छह द्रव्यों के समूह का जानपना रूप ज्ञेयरूप नहीं हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं ज्ञायक, समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय ऐसा तो नहीं है। तो कैसा है? ऐसा है-जानपना रूप शक्ति, जानने योग्य शक्ति, अनेक शक्ति विराजमान वस्तुमात्र—ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र है; ऐसा ज्ञेयरूप हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदक रूप से जानता हूँ। इसलिए मेरा नाम ज्ञान (है)। यतः मैं आप द्वारा जानने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय (है)। यतः ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्ति रूप हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता (है)। ऐसा नाम भेद है; वस्तुभेद नहीं है।"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जैसे छह द्रव्य हमारे ज्ञान के ज्ञेय हैं, वैसे ही राग-द्वेष, सुख-दुःख, मोह, आदि भी हमारे ज्ञान के ज्ञेय हैं। उनको जानते समय हमें भ्रम बना रहता है कि हमें अच्छा लग रहा है, बुरा लग रहा है। अच्छा लगना राग का परिणाम है और बुरा लगना द्वेष का परिणाम है। जिसको हम भला जानते हैं वह राग है। राग के उदय में एक ही वस्तु एक समय में अच्छी लगती है और दूसरे समय में वही बुरी लगने लगती है। बुरी लगना यह द्वेष है। पर में ममत्व बुद्धि होना यह मोह है। दर्शन मोह, मिथ्यात्व का तीव्र ज्वर चढ़ा हुआ होने के कारण हमारी बुद्धि में भावकर्म (राग, द्वेष, मोहादि), द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि), नोकर्म (शरीरादि) से जैसा एकत्व है और इन सभी से ज्ञानक्रिया का जैसा एकत्व है, वैसा अपने स्वभाव से एकत्व नहीं है। इसलिए जैसे इन्द्रियों से और ज्ञेयों से ज्ञानक्रिया का एकत्व रहा है, वैसे ही कर्म के क्षयोपशम से भी ज्ञानक्रिया का एकत्व रहा है। आगम में कहा भी है कि ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के ज्ञान गुण प्रकट होता है, किन्तु वस्तुतः क्षयोपशम से दर्शन, ज्ञानगुण नहीं है, स्वतः ही हैं। उनका परिणमन भी किसी अन्य के कारण नहीं होता।

"जयधवला" पुस्तक ७ के पृष्ठ ११७ पर लिखा है—"वज्झकारणनिरपेक्खो वत्थुपरिणामो" अर्थात् वस्तु का परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है। वस्तुतः ज्ञान के प्रकट होने में ज्ञान कारण है। क्योंकि ज्ञानक्रिया का ज्ञानस्वभाव से एकत्व है; न कि द्रव्यकर्म से एकत्व है। जो कर्म ज्ञान की क्रिया होना मानता है, उसके राग में एकत्वबुद्धि समझनी चाहिए। यथार्थ में शुद्ध ज्ञानपरिणत जिस जीव के ज्ञान और श्रद्धान में यह प्रतिभासित हुआ कि यह व्यक्त रूप ज्ञान तो अंश है, मेरी वस्तु तो ध्रुव, परिपूर्ण है। ध्रुव में ध्रुव नहीं जाना जाता, किन्तु ध्रुव के लक्ष्य से जो परिणमन होता है उससे ध्रुव जाना जाता है। ज्ञान का अंश अवस्था में होने वाले राग और बन्ध को भी जानता है। ज्ञान जैसे 'स्व' को जानता है, वैसे ही राग को भी जानता है। कर्मोदय के निमित्त से जो भाव होता है, वह विकार है और बन्ध का कारण है। अज्ञानी इस तथ्य को नहीं समझता। द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और भावकर्म जीव द्रव्य की पुद्गल के आश्रित पर्याय है। पुद्गल के आश्रित पर्याय का कारण पुद्गल से निज आत्मा के ज्ञान का अभाव है। अनादि कालीन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञान के कारण रागक्रिया और ज्ञानक्रिया की अभिन्न अनुभूति हो रही है। इसी प्रकार राग के निषेध में ज्ञान का निषेध जान पड़ता है और ज्ञान के निषेध में जड़त्व का भय लगता है। ज्ञान का नाम लेकर राग का विश्वास करते हैं और उसमें ही अहं बुद्धि स्थापित कर उसमें लीन रहते हैं। राग की लीनता को मजा मानते हैं। दुनिया का यह बहुत बड़ा अज्ञानता का नाटक सदा चला करता है जिसमें यह स्वयं भागीदार बनता है। जब तक यह अज्ञान है तब तक संसार का खेल चलता रहेगा। अतः अज्ञान दशा के भ्रम को समझ कर राग का निषेध कर और ज्ञान को अपना कर ही हम इस संसार (राग-द्वेष के संसरण से) से सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञान ही ज्ञान है—

वास्तव में हमारे कितने भ्रम हैं? क्योंकि हम ऐसा मानते हैं कि बिना मन और इन्द्रियों के ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु मन और इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं। वे ज्ञान के स्वरूप से भिन्न स्वरूप वाली हैं। इन्द्रियज्ञान में उनको बहिरंग कारण कहा गया है; अन्तरंग कारण नहीं हैं। इन्द्रियज्ञान पदार्थ को तभी जान सकता है जब इन्द्रियों के साथ पदार्थ का सन्निकर्ष सम्बन्ध हो। परन्तु इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का अभाव है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं (प्रवचनसार गा. ४२)—ज्ञेयार्थ परिणमन रूप क्रिया ज्ञान में से नहीं होती। ज्ञेय पदार्थ रूप से परिणमन करना अर्थात् यह हरा है, यह पीला है, इत्यादि विकल्प रूप से ज्ञेय रूप पदार्थ में परिणमन करना वह कर्म का भोगना है; ज्ञान का नहीं। जिनेन्द्रदेव के उपदेश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियमय देह-वेदना से पीड़ित होने के कारण रम्य विषयों में रमते हैं। पर के सम्बन्ध से सहित होने से, बाधा युक्त होने से, बन्ध का कारण होने से और विषम होने से इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही हैं। उसमें पराधीनता और आकुलता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव "समयसार" और "प्रवचनसार" दोनों परमागमों में आकुलता, दुःख, मोह को दूर करने के लिए भेद-विज्ञान का उपाय बताते हैं। जो क्रोध कषाय से दूर होना चाहता है, उसे सर्वप्रथम ज्ञान और क्रोध की भिन्नता भासित होनी चाहिए। वास्तव में ज्ञान-ज्ञान में है और क्रोध-क्रोध में है। क्रोध मे ज्ञान नहीं है और ज्ञान में क्रोध नहीं है। ज्ञान हर हालत में ज्ञान ही रहता है। शुद्धस्वरूप मात्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु का अनुभव करते ही चेतनस्वरूप उससे प्रकाशमान होता है। पं. राजमल्लजी के शब्दों में "साम्प्रत (वर्तमान में) जीवद्रव्य रागादि अशुद्ध चेतना रूप परिणमा है; सो ज्ञान भिन्न, क्रोध भिन्न ऐसा अनुभवना अति ही कठिन है। परन्तु वस्तु का शुद्ध स्वरूप विचारने पर भिन्नपने रूप स्वाद आता है और कर्म का कर्त्ता जीव है, इस भ्रांति को मूल से दूर करता है। जिस प्रकार अग्नि के संयोग से पानी ताता (उष्ण) किया जाता है, फिर 'ताता पानी' ऐसा कहा जाता है, तथापि स्वभाव विचारने पर उष्णपना अग्नि का है, पानी तो स्वभाव से शीतल है--ऐसा भेदज्ञान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी को भिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार कोई जीव-पुद्गल को भिन्न-भिन्न अनुभवता है। ऐसा ही जीव ज्ञायक कहा जाता है।"

सुख का साधन ज्ञान—

शुद्ध ज्ञान अतीन्द्रिय सुख रूप है। आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार कलश' (श्लोक १६३) में उसे 'आनन्दामृतनित्यभोजी' कहा है। वास्तव में शुद्ध ज्ञान निरन्तर आनन्द अमृत का स्वाद लेता है। वही आकुलता का मिटाने वाला है। शुद्ध ज्ञान से ही बन्ध-पद्धति का अभाव हो सकता है। शुद्ध ज्ञान का माहात्म्य अचिन्त्य है। जिस प्रकार किसी जीव को मदिरा पिला कर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पद से भ्रष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से लेकर सर्व जीव-राशि राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणाम से मतवाली हुई है जिससे ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता है। ऐसे बन्ध को शुद्ध ज्ञान का अनुभव मेटनशील है, इसलिये शुद्ध उपादेय है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव 'समयसार' (गाथा १९५) में कहते हैं—जिस प्रकार वैद्य पुरुष विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्म के उदय को भोगता है, पर बंधता नहीं है। यह ज्ञान का ही अचिन्त्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करने वाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषय-सेवन का फल जो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी प्राप्त नहीं करता। इतना ही नहीं, कोई भोगों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता है; जैसे भरत चक्रवर्ती चारित्र मोह कर्म की विवशता में किसी विषय को भोगता हुआ भी उसका भोगने वाला नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

था। आगे कहते हैं कि कोई सेवन न करता हुआ भी उसके प्रति रागी होने से उसका सेवन करने वाला हो जाता है। जैसे विवाह में आया हुआ पाहुना दूसरे घर से आया है, फिर भी प्राकरणिक बन जाता है।

संक्षेप में, सच्चा सुख स्वभावसिद्ध है। स्वभाव की जिसकी दृष्टि है, मन और इन्द्रियों से निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान में जो लीन रहता है और उसमें ही जिसकी स्थिरता है, उसने ही आत्म-दृष्टि-ज्ञान से सम्पन्न हो सच्चे सुख को साधा है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—'यथार्थ में ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि स्वयं आत्मा स्वभाव से ही मोक्षस्वरूप है।

अनुप्रेक्षा—

संस्कृत का शब्द है—अनुप्रेक्षा। इसका अर्थ बार-बार चिन्तवन करना है। प्राकृत में 'अणुवेक्खा' शब्द साधु प्रयोग है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'भावपाहुड' (गा. ९६) तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में 'अणुवेक्खा' शब्द का ही प्रयोग किया है। वे साधु को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे मुनि! तू अनित्य आदि बारह भावनाओं का एवं पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का चिन्तवन कर। कारण यह है कि शुद्ध भाव के बिना नग्न भेष धारण करने मात्र से परमार्थ का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

साधुओं के लिए ही नहीं, श्रावकों को भी बारह भावनाओं का चिन्तवन करना आवश्यक कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'धर्मानुप्रेक्षा' की प्रथम गाथा में गृहस्थ धर्म के ग्यारह और मुनि धर्म के दस भेदों का उल्लेख कर यह कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। बिना सम्यग्दर्शन के धर्म नहीं होता। आस्रव, बन्ध, संवर, आदि अवस्थाएँ कर्म के सम्बन्ध से होती हैं। वस्तुतः आत्मा कर्म-जंजाल से रहित शुद्ध स्वरूप है। अतः अपने शुद्ध स्वरूप की भावना भानी चाहिए। क्योंकि कर्म-बन्धों को करने वाले जितने तरह के भाव होते हैं उन सबको क्रम से अनुभव करने को भाव-परावर्तन कहते हैं। पाँच प्रकार के परावर्तन यह जीव अनादि काल से करता आ रहा है। अब तो यही विचार करने योग्य है कि मैं मन, वचन, काय, आदि से सर्वथा भिन्न हूँ। कहा भी है—

णाहं देहो ण मणो चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता णहि कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं॥ प्रवचनसार, गा. १६०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देह, मन और वाणी परद्रव्य हैं। मैं मन, वचन और काय का न तो करने वाला हूँ और न कराने वाला हूँ तथा उन सबका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। शरीर, वाणी और मन अचेतन द्रव्य है। मैं उनका कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ? इसलिए अनुमोदन भी कैसे करूँ?

जिसके भीतर मन और वाणी का समावेश हो जाता है, वह मैं नहीं हूँ। जो बोलता है, जिसमें विद्युत् का प्रवाह घूमता है, स्पन्दन होता है, तरह-तरह की वर्गणाओं को जो ग्रहण करता है, छोड़ता है एवं जो प्रयोजक, भावक और भोजक है, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं सहज चैतन्य से उद्‌भासित अखण्ड चैतन्य द्रव्य हूँ। इस शरीर की रचना पुद्‌गल-स्कन्धों से हुई है जो अचेतन पदार्थ हैं। बाहर से सुन्दर दिखने वाला यह शरीर मल-मूत्र, पीव-रुधिर, माँस-मेद, अस्थि-मज्जा का पिण्ड है। यह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। यह तो अशुचिता का समवाय है। इन देहादि पर-पदार्थों तथा संयोगी भावों से सर्वथा भिन्न निर्विकार, निर्बन्ध, निर्विकल्प, ज्ञानानन्द स्वभावी निज शुद्धात्मा को भज। हे मनुआ! अखण्ड, ज्ञान, आनन्द, चैतन्य मय ही हूँ। ऐसा चिदानन्द शुद्धात्मा ही ध्येय है। हे भव्य जीवों! समस्त विषयों को क्षणभंगुर जान कर महामोह को त्यागो तथा मन को विषयों के सुख से रहित करो, जिससे उत्तम सुख की प्राप्ति हो सके। अनुप्रेक्षा या बारह भावनाओं के भाने का यही माहात्म्य तथा फल है कि उत्तम, अविनाशी सुख की प्राप्ति हो।

इस दृश्यमान जगत्, प्रकृति, लोक, आदि के सम्बन्ध में अनादि काल से बुद्धिवादियों का चिन्तन रहा है। किन्तु दृश्यमान सभी रूप परिवर्तनशील, क्षणभंगुर तथा अनित्य हैं। दृश्यों में मूलतः वस्तु एक भी परिलक्षित नहीं होती। वस्तु में उत्पन्न और विनाश को प्राप्त होने वाली पर्याएँ ही प्रत्येक समय में दृष्टिगोचर होती हैं। पर्याय अस्थिर, क्षणिक तथा अनित्य है। वह स्वयं द्रव्य के आश्रित है। इसलिए वह क्या सहारा दे सकती है? केवल निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही शाश्वत, अविनाशी है, इसलिए वही आश्रय करने योग्य है।

यद्यपि परमाणु एक प्रदेश रूप है, तथापि स्निग्ध-रूक्ष गुण के कारण दूसरे परमाणुओं के साथ मिलकर स्कन्ध बन जाता है। ऐसा स्कन्ध दो प्रदेशों से लेकर संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी तक होता है। संसारी जीव का शरीर ऐसे ही परमाणुओं की स्कन्ध रूप-रचना है। यह सब होने पर भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र है। क्योंकि जिनवर इस सिद्धान्त को प्रकाशित कर चुके हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है। आज का भौतिक विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने काल, आकाश और पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानी है। आधुनिक विज्ञान की आधारशिला क्वाण्टम सिद्धान्त कहा जाता है। क्वाण्टम सिद्धान्त दो वैज्ञानिक विधियों से समन्वित है। प्रथम विधि श्रोएडिंजर विधि है और दूसरी हाइजनवर्ग विधि है। जिनवरों द्वारा प्रतिपादित कर्म-विज्ञान की इकाइयों में मुख्यत: अविभागी प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुण-हानि, नाना गुणहानि, अन्योन्याभ्यस्त राशि, समयप्रबद्ध, आदि राशि हैं जिनकी गणितीय संरचना अत्यन्त जटिल है। इस कर्म विषयक वैज्ञानिक प्रणाली का अध्ययन दो विधियों से हुआ है। प्रथम विधि में काल प्रधान न होकर प्रकृति-प्रदेश का गणितीय अध्ययन किया जाता है। द्वितीय विधि में काल की प्रधानता से स्थिति-रचना-यन्त्र बनाकर स्थिति और अनुभागों की गणना निषेकों द्वारा निष्पन्न की जाती है। यह विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है[१७]। वास्तव में इन विधियों का विवेचन 'कषायपाहुड' तथा 'षट्खण्डागम' में किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द को इनका परिज्ञान था। लेकिन उन्होंने अपने पाहुड ग्रन्थों में जिस वैज्ञानिक विधि का विवेचन किया है उसका नाम है—वीतराग-विज्ञान पर आधारित भेद-विज्ञान। भेद-विज्ञान कराने के लिए ही समयसार, प्रवचनसार, आदि पंच परमागमों, पाहुड ग्रन्थों तथा वारसाणुवेक्खा आदि की रचना की।

वीतराग-विज्ञान वस्तुतः वस्तु-विज्ञान है। इसका केन्द्र-बिन्दु भगवान् आत्मा है। अपने ज्ञान-स्वभाव के सन्मुख होने वाला ऐसी भावना भाता है कि मुझे उस आत्मस्वभाव का अनुभव प्राप्त हो जिस आत्मा का ज्ञान एक स्वभाव रूप अखण्ड है। इसलिए उसमें मतिज्ञान आदि के भेद नहीं हैं। उसमें किसी भी प्रकार का राग-द्वेष आदि का क्षोभ भी नहीं है। वह आत्मा के आनन्द को देने वाला है तथा आत्मा के सम्पूर्ण आकार में सर्वतः परिपूर्ण प्रकाशमान है, जिसके समान अन्य कोई तेज इस लोक में नहीं है। उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य किसी परवस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं है। वह पर से निरपेक्ष, आनन्दनिर्भर निजरस से परिपूर्ण है। उस परम आनन्दमयी एक रस का स्वाद निरन्तर प्राप्त होता रहे—यही भेद-विज्ञान का कार्य तथा चैतन्य पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ को जाग्रत करने के लिए ही बारह भावनाओं का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चिन्तन, मनन तथा शुद्धात्मा का स्मरण किया जाता है। बार-बार चिन्तवन करने में निज शक्ति प्रकट होती है, द्रव्य-गुण-पर्याय का स्व-पर रूप भेद-विज्ञान होता है। वास्तव में ज्ञानी वही है जिसके अन्तरंग में आत्मा एकाकार शुद्ध झलकता है। अपने वीतराग स्वभाव को जानने वाला ही वीतरागी हो सकता है। इसलिए उसका ही चिन्तवन, मनन और ध्यान करना चाहिए।

भाषा—

आचार्य गुणधर के 'कषायपाहुड' की भाँति आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की भाषा भी जैन शौरसेनी कही गई है। 'षट्खण्डागम' के मूल सूत्रों की भाषा में शौरसेनी के जो लक्षण विशेष रूप से लक्षित होते हैं, लगभग वही 'वारसाणुवेक्खा' में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे जहाँ इसकी प्राचीनता का बोध होता है, वहीं यह भी दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की एक मौलिक रचना है। सम्भव है कि यह किसी पाहुड रूप में रही हो। क्योंकि यह सम्पूर्ण रचना लगभग एक ही छन्द में निबद्ध है।

शौरसेनी प्राकृत की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है उनमें सबसे प्रमुख है—मध्यम तथा अन्त्य 'त' का 'द' हो जाना। प्राकृत के सभी व्याकरणों में यह उल्लेख व विधान मिलता है कि मध्यम 'त' के स्थान पर 'द' शौरसेनी में हो जाता है। यह प्रवृत्ति 'वारसाणुवेक्खा' में मुख्य रूप से पाई जाती है। इसके उदाहरण हैं—

मादा (माता), पिदर (पितर), जदि (यति), रदि (रति), हिद (हित), भूदाणं (भूतानां), भरिद (भरित), भमिदो (भ्रमितः), संभवदि (सम्भवति), णिमज्जदे (निमज्जति), आदि।

यही नहीं, संस्कृत के परस्मैपद क्रिया-रूपों के वर्तमानकालिक अन्य पुरुष के एक वचन के प्रत्यय 'ति' के स्थान पर भी शौरसेनी में 'दि' का प्रयोग तथा 'ते' के स्थान पर 'दे' प्रत्यय का प्रयोग देखा जाता है। जैसे कि—

कुणदि, करेदि, बुड्डदि, वददि, कुव्वदि, संभवदि, वट्टदि, धरदि, जादि, उप्पज्जदि, अज्जयदि, परिपडदि, सिज्झदि, होदि, हवदि, पहुदि, विज्जदे, पकुव्वदि, मुयदि, इत्यादि।

इतना ही नहीं, कृदन्त रूपों में भी 'त' के स्थान पर 'द' परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए—खविद (क्षपित), भरिद (भरित), परिभमिद, जादो, मुदो,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उप्पादो, भणिदो, आदि। कृदन्त रूपों में केवल भूतकालिक कृदन्तों मे ही यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

शौरसेनी की यह विशेषता भी मुख्य रूप से पाई जाती है कि संज्ञा शब्दों के पुल्लिग एक वचन में 'ओ' विभक्ति का प्रयोग होता है। 'वारसाणुवेक्खा' में ऐसे शब्द-रूप हैं—समणो, जीवो, धम्मो, जिणो, णाहो, संजदो, कोहो, लोहो, माणो, रागो, दोसो, मोहो, देहो, प्रभृति। इसी तरह सर्वनाम तथा विशेषणों में भी शब्द-रूप 'ओ' सहित मिलते हैं। यथा—तइयो, जो, सो, पुणो, कमसो, बहुसो, एक्को, सुद्धो, णिम्ममो, समग्गो, संजुदो, संजोगो, भिण्णो, अणयारो, णिस्संगो, जुत्तो, झाणो, णिरोहो, आसवो, आदि।

शौरसेनी में प्रायः मध्यम 'भ' के स्थान पर 'ह' हो जाता है। 'वारसाणुवेक्खा' में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। जैसे कि—पाहुड, सहाव, लोह, सोहग्गं, होऊण, होदि, हवदि, सोह (शोभा), पहुदि (प्रभृति), सुहासुह, इत्यादि।

शौरसेनी के मध्यग 'थ' के स्थान पर 'ध' वाले प्रयोग अवश्य 'वारसाणुवेक्खा' में नहीं मिलते हैं। उदाहरण के लिए, 'नाथ' का 'णाध' होना चाहिए, लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ (वारसाणुवेक्खा, गा. २२) में 'णाह' उपलब्ध है जो महाराष्ट्री प्रयोग माना गया है। इसी प्रकार संस्कृत का 'कथ' का प्रयोग 'कध' होना चाहिए, लेकिन (वारसाणुवेक्खा, गा. ६) में 'कह' शब्द-प्रयोग मिलता है। अतः शौरसेनी के साथ कुछ महाराष्ट्री की विशेषताएँ भी पाई जाती हैं। वास्तव में जैन शौरसेनी की विशेषताओं से तो यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भरपूर है। पं. बालचन्द्र शास्त्री ने जैन शौरसैनी के अनुसार 'षट्खण्डागम' की भाषागत जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है, प्रायः वे सभी विशेषताएं 'वारसाणुवेक्खा' में मिलती हैं। वे इस प्रकार हैं—

मध्यग 'क' के स्थान पर 'ग' — लोग, सोग
मध्यग 'क' के स्थान पर 'ख' — खुत्तो (कृत्वा)
मध्यग 'ख' के स्थान पर 'ह' — सुह, दुह
मध्यग 'घ' के स्थान पर 'ह' — जहण्ण (जघन्य), दीह (दीर्घ,
मध्यग 'थ' के स्थान पर 'ह' — जहा, कहा (कथा), णाह, कह
मध्यग 'भ' के स्थान पर 'ह' — पाहुड, सहाव, कोह, लोह, सुहासुह,
मध्यग 'ध' के स्थान पर 'ह' — साहु, समाहि दुविह, रुहिर, महु,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संस्कृत में जहाँ पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय 'क्त्वा' का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्राकृत में त्ता, ईय, ऊण, दूण प्रत्ययों का प्रयोग होता है। आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में इन चारों तरह के प्रत्ययों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतः काऊण, लद्धूण, मोत्तूण, णमिऊण, चइऊण, गहिऊण, आदि के साथ 'सुणिदूण' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं। वास्तव में इनके विषय में कोई सर्वमान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह भी जैन शौरसेनी की एक विशेषता रही है। यद्यपि परवर्ती वैयाकरणों के उल्लेख तथा विधान के अनुसार यह माना जाने लगा है कि शौरसेनी में 'दूण' तथा महाराष्ट्री में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है, किन्तु इससे भाषा की पूर्णतः निर्णायक स्थिति का बोध नहीं होता है।

यह भी एक आश्चर्य की बात है कि दक्षिण भारत में रह कर आचार्य कुन्दकुन्द ने शौरसेनी भाषा में जिनागम का प्रणयन किया। यथार्थ में सुदूर दक्षिण भारत में होने के कारण उनकी रचनाएँ महाराष्ट्री के प्रभाव से बची रहीं। फिर भी, जैन शौरसेनी की लगभग सभी विशेषताएँ तथा आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में मिलने वाले लगभग सभी तरह के प्रयोग प्रस्तुत रचना में भी उपलब्ध होते हैं। कर्नाटक के विभिन्न स्थानों पर सम्राट् अशोक के तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के शिलालेख उपलब्ध होने से यह निश्चित हो गया है कि वहाँ पर ई.पू. तृतीय शताब्दी में प्राकृत प्रचलित थी[१८]।

छन्द-संयोजना—

'कसायपाहुडसुत्त' की भाषा से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने आचार्य गुणधर के भावों का ही नहीं, भाषा का भी संयोजन तथा अनुगमन किया है। भाषा की भाँति 'वारसाणुवेक्खा' में प्रयुक्त छन्द-संयोजना से आचार्य कुन्दकुन्द की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि वे गाथा-सूत्रकार थे। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे गाथा छन्द का प्रयोग करते। 'वारसाणुवेक्खा' में मुख्य रूप से 'गाहा' तथा उसके ही भेद-उपभेदों (गाहा-गीति, उग्गाहा) का ही प्रयोग दिखलाई पड़ता है।

वेदों की भाँति अवेस्ता भी प्राचीनतम माना जाता है जो तीन भागों में निबद्ध है—यसन, विस्पेरेद और वेन्दीदाद। यसन में गाथा भाग सर्वप्राचीन है। अवेस्ता में कतिपय विशेषताएँ प्राकृतों से मिलती-जुलती हैं। भारतीय साहित्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के इतिहास का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि 'गाहा' शब्द प्राकृत-छन्द का बोध कराता है। 'प्राकृतपैंगलम्' में 'गाहा' के २७ भेदों का वर्णन मिलता है। मात्रिक वृत्तों में यह प्रथम छन्द माना जाता है। 'छन्दोऽनुशासन', में इसके १२, ८०० भेदों का उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद और अवेस्ता में भी गाथाएँ मिलती हैं। इससे 'गाहा' छन्द की प्राचीनता का पता चलता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीअं दहपंचविहूसिआ गाहा॥ प्राकृतपैंगल, १, ५४

इसके प्रथम चरण में १२, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ चरण में १५ मात्राएँ होती हैं। संस्कृत में यह आर्यावृत्त है। आर्या के ८० भेद कहे गये हैं। परवर्तीकाल में इन दोनों का समानान्तर रूप से विकास हुआ।

'उग्गाहा' को 'गाहा' का ही एक भेद समझना चाहिए। संस्कृत में जो गीति है लगभग वही प्राकृत में 'उग्गाहा' है। इसके पूर्वार्द्ध में तीस मात्राएँ और उत्तरार्द्ध में भी ३० मात्राएँ होती हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है—

पुव्वद्धे उत्तद्धे मत्ता तीसंति सुहअ संभणिआ।
सो उग्गाहो वुत्तो पिंगलकइ दिट्ठ सट्ठि मत्तंगो॥ प्राकृतपैंगल, १, ६८

अलंकार—

आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा सहज तथा स्वाभाविक लक्षित होती है। अतः उनकी रचनाओं में अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं हुआ है। स्वाभाविक रूप से जो अलंकार आ गए, वही दिखलाई पड़ते हैं। इनमें उपमा, रूपक, हेतु, स्वभावोक्ति मुख्य हैं। 'वारसाणुवेक्खा' में दृष्टान्त अलंकार का भी प्रयोग नहीं है। उपमा अलंकार का सुन्दर तथा स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। देखिए—

जलबुव्वद-सक्कधणु-खणरुचि-घणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाई बलदेवप्पहुदि पज्जाया॥ गा. ५॥

इसी प्रकार बिम्ब के माध्यम से रूपक अलंकार का कितना सुन्दर प्रयोग किया है; यथा—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि॥ गा. ५६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्पादन-विधि–

प्रस्तुत ग्रन्थ दो ताड़पत्र व हस्तलिखित प्रतियों के एवं पाँच प्रकाशित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है। अधिकतर पाठ ताडपत्रीय प्रति से स्वीकृत किए गए हैं। पाठ निश्चित करने में लेखक की प्रामाणिक रचनाओं तथा व्याकरणसम्मत शब्द-रूपों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। प्रतियों का विवरण इस प्रकार है–

१. अ प्रति – यह एक हस्तलिखित प्रति है जो श्री दिगम्बर जैन मन्दिर लश्कर, बोरड़ी का मार्ग, जयपुर में सुरक्षित है। मोटे कागजों पर लिखी हुई यह प्रति जीर्ण-शीर्ण है। इसका आकार १०।।-४।।। है। इसमें पत्र सं. ६ है। इसका लेखन सं. १८२०, कार्तिक शु. १५ है। इसी प्रति के वेष्टन में लिपटी हुई एक दूसरी हस्तलिखित प्रति है जिसका आकार १०।।।-५ है। पत्र सं. १२ है। इसका लेखन-संवत् द्वितीय वैशाख कृ. २, गुरुवार, वि.सं. १८८८ है। इनकी वेष्टन संख्या २७।६६-६७ है।

२. ब प्रति – यह एक ताड़पत्रीय प्रति है जो श्री दिगम्बर जैन मठ, श्रवणवेलगोल में संरक्षित है। इस प्रति पर लिपि-काल नहीं है। अतः यह पता नहीं चलता कि प्रति कितनी पुरानी है। पाठ का मिलान करने में बाबा एस.बी. देवकुमार शास्त्री का सहयोग रहा है।

३. क प्रति – यह एक प्रकाशित प्रति है जो 'कुन्दकुन्द-भारती' के अन्तर्गत 'द्वादशानुप्रेक्षा' पृ. ३०९-३२४ के नाम से संकलित है। यह श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन से सन् १९७० में प्रकाशित हुई थी।

४. ख प्रति – यह एक गुजराती भाषा में अनूदित मूल पाठ के साथ प्रकाशित प्रति है जिसके पाठ पन्द्रहवीं शताब्दी के लिखे हुए जीर्ण-शीर्ण गुटका पर आधारित हैं। इसके अनुवादक हैं–भायाणी हरिलाल जीवराजभाई कापड़िया, भावनगर। यह वि.सं. १९९९ में पोरबन्दर से प्रकाशित हुई थी। यह एक आदर्श प्रति मानी जा सकती है।

५. ग प्रति – यह 'कुन्दकुन्द-प्राभृतसंग्रह' में 'बारह अनुप्रेक्षा' के नाम से पृ. १३६-१५३ पर संकलित है। सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी ने पाठ और अनुवाद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस रचना को प्रकाशित किया था। यह जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से सन् १९६० में प्रकाशित हुई थी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

६. घ प्रति — पं. मनोहरलाल गुप्त और नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित तथा श्री जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित यह एक महत्त्वपूर्ण संस्करण है। यह सन् १९१० में प्रकाशित हुआ था।

७. ङ प्रति — यह भी एक प्रकाशित प्रति है जिसे पं. उग्रसेन जैन, रोहतक वालों ने हिन्दी अर्थ, भावार्थ सहित प्रकाशित किया था।

यद्यपि प्रकाशित प्रतियों में गाथाओं की संख्या ९१ है, लेकिन हस्तलिखित तथा ताड़पत्रीय प्रति में भी कुल गाथाएँ ९० हैं। इन सभी प्रतियों के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम ९१ वीं गाथा आचार्य कुन्दकुन्द रचित नहीं है। फिर, यह भी विचार करने की बात है कि कोई भी साधु अपने आप को 'मुनिनाथ' कैसे लिख सकता है? अतः उसे क्षेपक गाथा ही मानना चाहिए। इसी प्रकार प्रस्तुत संस्करण में प्रथम बार प्रकाशित १९वीं गाथा हस्तलिखित प्रति में तथा श्रवणबेलगोल एवं मूडबिद्री की दोनों ताड़पत्रीय प्रतियों में संख्या २० पर मिलती है। 'दंसणभट्टा भट्टा' यह गाथा दंसणपाहुड की होने से उसे प्रक्षिप्त माना गया है।

वर्तनी की दृष्टि से एकरूपता बनाये रखने के लिए सम्पादन में पूरा ध्यान दिया गया है। इसलिए 'समये' के स्थान पर 'समए' का प्रयोग अनुचित है। इसी प्रकार जहाँ पर 'लोक' शब्द के 'क' का लोप हो जाता है वहाँ 'य' श्रुति आने से 'लोये' बनेगा, जिसे 'लोए' लिखना प्राकृत भाषा की वर्तनी के विरुद्ध समझा जायेगा। इसी तरह के अन्य शब्द-प्रयोग हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत में 'चन्द' में हलन्त 'न्' का प्रयोग होता है, किन्तु प्राकृत में सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। सन्धिगत 'अ' के लिए संस्कृत में अवग्रह चिन्ह का प्रयोग होता है, लेकिन प्राकृत में 'अ' (असंख)' ही लिखा जाएगा।

अन्त में उन सभी का आभार है—जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग मिला है। सर्वप्रथम आदरणीय पं. नाथूलालजी शास्त्री का आभारी हूँ जिनसे लगभग दो वर्ष पूर्व इन्दौर में आचार्य कुन्दकुन्द की संगोष्ठी में इस तथ्य की जानकारी मिली थी कि आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि से पूर्व हुए थे। तभी से मैं वास्तविकता को जानने तथा ऐतिहासिक प्रमाणों को खोजने में लगा रहा हूँ। स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी तथा एस.बी. देवकुमार शास्त्री का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनकी कृपा से ताड़पत्रीय प्रति के पाठ-भेद उपलब्ध हो सके हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सबसे अधिक आभार है—पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के महामन्त्री, सम्मान्य श्री नेमीचन्द पाटनी तथा विद्वद्वर डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल का, जिन्होंने सहज ही इसके मुद्रण हेतु स्वीकृति प्रदान की। इसकी साज-सज्जा तथा सुन्दर मुद्रण के लिए श्री अखिल बंसल का भी आभार है।

अन्त में उन सभी का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ जिनके विचारों से प्रेरित होकर यह रचना इस रूप में सम्पादित होकर मूर्तमान हो सकी। आशा है साहित्यिक जगत् में भी इसे उचित सम्मान प्राप्त होगा।

देवेन्द्रकुमार शास्त्री,
क्षमावणी पर्व,
वीर निर्वाण सं. २५१६

●●●

परम्परा क्या है ?

जिनागम में कहा है कि ज्ञानपूर्ण क्रिया परम्परा से मोक्ष की कारण है। लेकिन मन, वचन, काय की क्रिया परम्परा नहीं है ; रूढ़ि है। रूढ़ि बार-बार अपने को दुहराती है। उसके प्रयोजन भौतिक होते हैं। वह एक यान्त्रिक परम्परा के समान है। अतः रूढि परम्परा नहीं है। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि व्रतों से परम्परा मोक्ष होता है; तो उसका अर्थ यह है कि प्रथम अव्रत का त्याग कर व्रत धारण करे, पश्चात् व्रतों का त्याग कर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करे - यह परम्परा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सन्दर्भ:

१. मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

२. जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥ (समयसार की अन्तिम पुष्पिका)

३. एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥
श्रीपद्मनन्दिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाण—
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डादयभिखण्डस्य ॥ श्रुतावतार १६०,१६१

४. श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य शब्दोत्तर कोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजात सुचारणर्द्धिः॥
श्रवणबेलगोल शिलालेख, क्र. ४२,४३,४७,५०
द्रष्टव्य है — जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, लेख क्र. ४२,४३,४७,५० तथा ९,१०

५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग१, किरण ४, पृ. ७१-७४

६. द्रष्टव्य है—देवकीर्ति - पट्टावली (शक संवत् १०८५), जैन शिलालेख-सग्रह, प्रथम भाग, पृ. २४

७. पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्रः समभूदतन्त्रः ततोऽभवत्
पंचसुनामधाम श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्योगृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः॥३,४

८. द्रष्टव्य है, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीःतीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग ४ , पृ. ४०४ तथा ४११

९. वहीं, पृ. ४३० - ४३२

१०. पं. परमानन्द शास्त्री; जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. ६८

११. गुणहर - वयण - विणिग्गय - गाहाणत्थो वहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ॥ जयधवला टीका, मंगलाचरण,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१२. द्रष्टव्य है; डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीः तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य - परम्परा, भा. २, पृ. २५

१३. बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भगवओ जयउ।। बोधपाहुड, गा. ६२

१४. सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण भद्दबाहुस्स।। बोधपाहुड, गा. ६१

१५. जुगलकिशोर मुख्तारः जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रथम खण्ड, पृ. ९३

१६. पी. बी. देसाई : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १५३

१७. देखिए - "अर्हत्वचन" शोध त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष १, अंक २, दिसम्बर, १९८८, पृ. ५८

१८. वहीं, पृ. ५८

१९. डॉ. बी. एस. एल. हनुमन्थरावः रिलीजन इन आन्ध्र, त्रिपुरसुन्दरी, १९७३, पृ. १५२

२०. वहीं, पृ. १०
"The recent discovery of Kharvela's inscription and other Jaina Inscriptions at Guntupalli Confirms the existence of this religion in Andhra in the second Century B.C.. The leader who was responsible for its spread not only in Andhra, but elsewhere in the south was kondakundacarya." (Religion in Andhra, P.10)

२१. पंचास्तिकाय (राजचन्द्र ग्रन्थमाला), प्रस्तावना, पृ. ६

२२. पं. परमानन्द शास्त्रीः जैनधर्म का प्राचीन इतिहास , पृ. २९२

२३. जैन शिलालेख-संग्रह, भाग ५, पृ. ३४

२४. पं. परमानन्द शास्त्रीः जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. ३६७

२५. अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिता प्रसिद्धिर्जीयात्तु सज्ज्ञाननिधिः स धीरः ।।
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः—
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान् ।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चन्द्राख्या मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः ।।श्रवणवेलगोल, शिलालेख क्र. ४०

२६. श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत् प्रतिष्ठाप्रतिभागरिष्टः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्नरत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी।।२८।। प्रथम शुभचन्द्र की गुर्वावली

२७. पं. पन्नालाल बाकलीवाल की "पंचास्तिकाय" की प्रस्तावना, पृ. ६

२८. वही, पृ. ६

२९. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृ. ५८

३०. पं. परमानन्द जैन शास्त्रीः जैन ग्रन्थ प्रशस्ति - संग्रह, प्रथम भाग, पृ.२१

३१. वही, पृ. ९९ तथा १९५

३२. यो भद्रबाहु (२) मुनिपुंगव - पट्टपद्मःसूर्यः स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धिम् ।।१।।
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्रस्समभूदतन्त्रः
ततोऽभवत् पञ्चसुनामधाम श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ।।३।। शुभचन्द्र-गुर्वावली

३३. "सर्वप्रथम वि. सं. ४ में आचार्य भद्रबाहु पट्ट पर बैठे। वि. सं. २६ फागुण सुदि १४ को गुप्तिगुप्त आचार्य पद पर विराजमान हुए। वि. सं. ३६ आसोज सुदि १४ को आ. माघनन्दि पट्ट पर बैठे। इनके पश्चात् फागुण सुदि १४ वि. सं. ४० में जिनचन्द्र मुनि ने आचार्य पद सुशोभित किया। वि. सं. ४९ पौष वदि ८ को श्री कुन्दकुन्द ने आचार्य पद अलंकृत किया।"
डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवालः खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद् इतिहास, पृ. ८ से उद्धृत

३४. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीः तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग ४, पृ. ३८७

३५. जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहिं विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे।। कसायपाहुड, गा. ६

३६. बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्य कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ।।१०
अभूदुमास्वामिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकला र्थवेदी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥११॥ श्रुतमुनि-पट्टावलि, श्लो. ११, ११

३७. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीः तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भा. २, पृ. ४८

३८. वही, पृ. १०८ से उद्धृत

३९. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीः प्राभृत-संग्रह की प्रस्तावना, पृ. २४

४०. वही, पृ. ३०

४१. बी. ए. सालेतोरे : मेडिवल जैनिज्म, पृ. २२६

४२. "इति सूरिपरम्परया द्विविधसिद्धान्तो व्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खण्डानां मध्ये प्रथमत्वे खण्डानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्म्म नाम शास्त्रं करिष्यति.........।—सिद्धान्तसारादि संग्रह, पृ. ३१८

४३. पं. बालचन्द्र शास्त्री : षट्खण्डागम - परिशीलन पृ. ३३८-३३९

४४. डॉ. हीरालाल जैनः षट्खण्डागम, जीवस्थान-सत्प्ररूपणा१, खण्ड १, भा. १, सोलापुर, प्रस्तावना, पृ. ४१

४५. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ. १७

४६. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैनधर्म, पृ. ८

४७. पं. बालचन्द्र शास्त्री : षट्खण्डागम-परिशीलन, पृ. ३४० से उद्धृत

४८. "ण च एद्धं वक्खाणं जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जंबूदीवछेदणाणि च रूवाहियाणित्ति परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झदि त्ति-धवला पु. ३, पृ. ३६

४९. पंचास्तिकायसार (अंग्रेजी) की प्रस्तावना पृ. ५

५०. डॉ. राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य. पृ. १६१

५१. पी. बी. देसाई : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पृ. १५६

५२. डॉ. हीरालाल जैनः भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ८३

५३. वहीं, पृ. ८३

५४. पंचास्तिकाय पाहुड, गा. ५३ - ५४

५५. समयसारपाहुड, गा. ४९

५६. पंचास्तिकाय पाहुड, गा. १२८, १२९

५७. तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं। मोक्खपाहुड, गा. ४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५८. यच्छेदवाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेद्यच्छेच्छान्तमात्मनि॥

५९. "एदिए सुत्तगाहए सद्दविरोहो किण्ण होदित्ति भणिदे ण होदि, सद्दुवलंभादो। "धवल, पु. ४, पृ. ३२६

६०. डॉ. देवनारायण शर्मा का लेख "आचार्य कुन्दकुन्द और अद्वैतवाद्" वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन, सं. २, पृ. ९१

६१. डॉ. एस. एम. शाहः द डायलेक्टिक ऑफ नॉलेज एण्ड रिएलिटी इन इण्डियन फिलासफी, दिल्ली, १९८७, पृ. २३९

६२. पं. बालचन्द्र शास्त्रीः षट्खण्डागम-परिशीलन, पृ. १५९

६३. समयसारपाहुड, गा. ३४०

६४. समयसारपाहुड, गा. १२१

६५. यः पुष्पदन्तेन च भूतवल्याख्येनापि शिष्य द्वितीयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगतजनानां प्राप्तोऽङ्कुराणामिव कल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्बलिः संघ चतुर्विधं स श्रीकौण्डकुण्डान्वय मूलसंघं।
न स्वभावादिहमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

" I find evidence enough in Telugu literature and popular speech to support the view that the kind of prakrit in which Kundakunda compose the prakrit work or something very near to it was not only widely understood but spoken by the common people in the Andhra-Kalinga desha at the time to which the clay seal of Ramthirtham and the inscriptions Amaravati relate..., think this period must be the early years of the first or second centuries of the C.A., जैनगजट, १८, ४ अप्रेल, १८२२, पृ. ९१ से उद्धृत

६७. जुगलकिशोर मुख्तार : पुरातन-जैनवाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ. ३७ से उद्धृत

६८. डॉ. लालबहादुर शास्त्री : आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ. १२१

८९. डॉ. श्रीराम गोयलः प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड १, पृ. ४१९

७०. द्रष्टव्य है; "अर्हत्वचन" शोध त्रैमासिकी, वर्ष १, अंक ३-४, पृ. ४५

७१. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ. १७७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

७२. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ९, पृ. ४७-५६

७३. पुड्ड शिलालेख देखिए ; तेलुगु इन्सक्रिप्शन्स, खण्ड २, पृ. १२८

७४. "अर्हत्वचन", वर्ष २, अंक ४, सितम्बर, १९९०, पृ. ५३-५४

७५. डॉ. श्रीराम गोयलः प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड १, पृ. ३७०, ३७१

७६. वहीं, पृ. ४६४

७७. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड १, पृ. ५४

७८. आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, १९२५-२६, पृ. १२५, १२६

७९. जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड१, ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. १०३

८०. समयसारपाहुड, गा. ३२१

८१. जैन विद्या एवं प्राकृत (परिसंवाद ४), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८७, पृ. २९

८२. भावपाहुड, गा. १५

८३. कल्याणविजय गणि : श्रमण भगवान महावीर, पृ. ३०३

८४. द्रष्टव्य है; जयधवला की प्रस्तावना, पृ. ५९,६०

८५. कल्याणविजय गणि : श्रमण भगवान महावीर, पृ. ३०६

८६. पंचास्तिकायपाहुड, गा. १६६

८७. मूलाचार, समाचाराधिकार. गा. ४१७४

८८. डॉ. हीरालाल जैनः भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ३२

८९. पं. मूलचन्द जैन 'वत्सल:' जैनाचार्य, सूरत, १९४८, पृ. ५

९०. समयसार, गा. ४९; पंचास्तिकाय, गा. १२७; प्रवचनसार, गा. १७२; नियमसार, गा. ४६; भावपाहुड, गा. ६४।

९१. "प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्।" कसायपाहुड, भा. १, पृ. ३२५

९२. बिहारीलाल जैन "चैतन्य" : बृहत् जैन शब्दार्णव, प्रथम खण्ड, पृ. ११९

९३. "संस्कृताः सर्वा भक्तय : पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः। दशभक्ति, पृ. ६

९४. आचार्य वट्टकेर विरचित मूलाचार (पूर्वार्ध), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९८४, सम्पादकीय, पृ. १०

९५. पं. परमानन्द शास्त्रीः जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भा. २, पृ. ८३

९६. प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ. २०

९७. अर्हत्वचन, शोध त्रैमासिकी, वर्ष २, अंक१, दिसम्बर, १९८९, पृ. १८

९८. द्रष्टव्य है; जैन विद्या एवं प्राकृत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८७, पृ. २३६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ग्रन्थानुक्रम

	पृष्ठ	गाथा
१. मंगलाचरण	१	1
२. बारह भावनाओं के नाम	२	2
३. अनित्यानुप्रेक्षा	३-७	3-7
४. अशरणानुप्रेक्षा	८-१३	8-13
५. एकत्वानुप्रेक्षा	१४-२०	14-20
६. अन्यत्वानुप्रेक्षा	२१-२३	21-23
७. संसारानुप्रेक्षा	२४-३७	24-37
८. लोकानुप्रेक्षा	३८-४२	38-42
९. अशुचित्वानुप्रेक्षा	४३-४६	43-46
१०. आस्रवानुप्रेक्षा	४७-६०	47-60
११. संवरानुप्रेक्षा	६१-६५	61-65
१२. निर्जरानुप्रेक्षा	६६-६७	66-67
१३. धर्मानुप्रेक्षा	६८-८२	68-82
१४. बोधि-अनुप्रेक्षा	८३-८६	83-86
१५. उपसंहार	८७-९०	87-90
१६. क्षेपक	९१-९१	91-91
१७. प्रक्षिप्त	९२-९२	92-92

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(मंगलाचरण)

(गाहा)

णमिऊण सव्वसिद्धे, झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य[1] जिणे, दस-दो अणुपेहणं वोच्छे[2] ॥१॥

नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान्।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश-द्वावनुप्रेक्षाणि वक्ष्ये॥१॥

अर्थ—*अपने परम शुद्ध ध्यान के बल से दीर्घ संसार का क्षय करने वाले सब सिद्धों को तथा चौबीस तीर्थंकरों (जिनों) को नमस्कार करके बारह भावनाओं का स्वरूप कहूँगा।*

भावार्थ—बार-बार निज स्वरूप का, स्वभाव का या तत्त्व का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा या भावना है। शुद्धात्म तत्व—विचार का नाम 'चिन्तन' है जो भावनात्मक है। सामान्य चिन्तन एक होने पर भी आलम्बन के भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है। आचार्य शुभचन्द्र "ज्ञानार्णव" में भावना की महिमा का व्याख्यान करते हुए कहते हैं- "इन बारह भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करने से पुरुषों के हृदय म कषाय रूपी अग्नि बुझ जाती है, पर द्रव्यों के प्रति होने वाला राग भाव गल जाता है तथा अज्ञान रूपी अन्धकार विलीन होकर ज्ञान का दीप प्रकाशित हो जाता है।" वास्तव में वैराग्य की स्थिरता के लिए अपने शुद्ध स्वरूप के चिन्तन से बढ़ कर अन्य भावना नहीं है। आत्मा ज्ञान स्वरूप, केवल ज्ञानानन्दमय है। जो जैसा चिन्तन करता है, वह वैसा ही फल पाता है। शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करने से शुद्धता की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प के योग से तिल भी सुवासित हो जाते हैं, उसी प्रकार त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक भाव के आश्रय से स्वकीय अखण्ड, ज्ञानानन्द-स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। चिन्तन के बिना ध्यान नहीं होता। चिन्तन ध्यान की भूमिका है। चिन्तन रूप होने से अनुप्रेक्षा ज्ञानात्मक कही गई है; ध्यानात्मक नहीं। आचार्य अकलंक के अनुसार जब अनित्यादि विषयों का चिन्तन ज्ञान रूप होता है, तब उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं और जब उन अनित्यादि विषयों में चित्त एकाग्र हो जाता है, तब वही धर्मध्यान कहलाता है। यह चिन्तन वैराग्य उत्पन्न कराने के साथ ही तत्त्व का अभ्यास कराने वाला भी है। इसलिये इसका अत्यन्त महत्त्व है।

---

1. 'व' क प्रति। 2. 'वोच्छं' अ, ब प्रति। किन्तु प्रयोग है- "मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे।"—चारित्तपाहुड, गा. २

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

अद्धुव[1]-मसरणमेयत्त[2]-मण्ण-संसार-लोग[3]-मसुचित्तं।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो[4] ॥२॥

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्य - संसारौ - लोकमशुचित्वम्।
आस्रव-संवर-निर्जर-धर्म-बोधीति चिन्तनीयम् ॥२॥

अर्थ— *अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।*

भावार्थ—संयोग और संयोगी भावों में रमने वाला जीव जब तात्त्विक चिन्तन करता है, तो उन सभी की असारता, भिन्नता तथा अनित्यता भासित होती है और अपने स्वरूप से एकत्व की प्रतीति होती है। इनमें से प्रारम्भिक छह भावनाएँ मलिनता, अस्थिरता और पर संयोगों की मिथ्या आश्रयता का बोध कराने वालीं स्वभाव की ओर सन्मुख होने की प्रेरणा देती हैं। सातवीं और आठवीं भावना संसार को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व-मोह, आदि विकारी भावों से वितृष्णा का अहसास कराती हैं। संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ ये चारों धर्म भावनाएँ कही गई हैं। धर्म भावना में स्वभाव-साधन के आश्रय का चिन्तन किया जाता है। वस्तुतः यह भावना ही वह रीति या पद्धति है जो शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त करती है। क्योंकि शुद्धता की भावना ही शुद्ध वस्तु तक ले जाती है।

भावना, आराधना, साधना या धर्मभावना, ज्ञानानन्दस्वभावी निज शुद्धात्मा की आराधना तथा शुद्ध स्वभाव की साधना, ये धर्म के तीन सोपान हैं। अपने शुद्ध स्वभाव को साधने वाला ही साधु कहा जाता है। साधु रत्नत्रय की मूर्ति होता है। वह सतत परमात्म-स्वरूप निज शुद्धात्मा का चिन्तन, स्वभाव में लीनता और स्थिरता द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति करता है। इसलिए सहज में ही साधु इन बारह भावनाओं का प्रतिदिन चिन्तन करता है।

---

1. 'अद्धुव' क प्रति; 'अंध्रुव' ख, ड. प्रति।
2. 'मेगत्त' ग प्रति
3. 'लोय' अ, ब प्रति। द्रष्टव्य है-"लोगालोगेसु णभो" प्रवचनसार, गा. १३६ तथा - "कारणभूदा हि लोगस्स." पंचास्ति. गा. २२
4. 'चिंतेज्जा' ख प्रति ; 'चिंतेज्जौ" ड.प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१

[अनित्यानुप्रेक्षा]

(उग्गाहा)

वर भवण - जाण[1] - वाहण - सयणासण - देव-मणुवरायाणं।
मादु-पिदु-सजण-भिच्चा[2]-संबंधिणो य पिदिविया[3] णिच्चा॥३॥

वर भवन - यान - वाहन - शयनासन - देवमनुजराजानः।
मातृ-पितृ-स्वजन-भृत्य-सम्बन्धिनिपितृव्यश्चानित्यः॥३॥

अर्थ—देवों, मनुष्यों और राजाओं के श्रेष्ठ महल, पालकी (सवारी) वाहन, शय्या, आसन, माता-पिता, कुटुम्बी जन, सेवक, सम्बन्धी तथा ताऊ-काका ,आदि सभी अनित्य हैं। इनमें से कोई भी सदा रहने वाला नहीं है। अतः निश्चय ही ये सब अस्थिर हैं।

भावार्थ—जो कुछ भी उत्पन्न हुआ देखा जाता है, नियम से उसका विनाश होता है। जो नित्य है, वह अविनाशी है। जिसका जन्म होता है, उसका मरण निश्चित है। द्रव्य नित्य है, ध्रुव है। द्रव्य में रहने वाले गुण भी नित्य हैं; किन्तु पर्याय अनित्य है जिसे परिणाम भी कहते हैं। पर्याय एक समय की होती है। प्रत्येक समय में उत्पन्न होना, नाश होना पर्याय का स्वभाव है। इस परिणाम को देखकर जब तक प्राणी परिणामी में हर्ष-विषाद करता है, तब तक वह पर्याय बुद्धि वाला है। पर्याय बुद्धि को छुड़ाने के लिए ही कहा जाता है कि इन्द्रियों के विषय, हाथी, घोड़े, रथ, यान, वाहन, भवन-प्रासाद, अच्छे सेवकों का समूह, धन, कुटुम्ब, प्रियजन, आदि सभी इन्द्रधनुष तथा बिजली के समान क्षणभंगुर हैं; अधिक समय तक बने रहने वाले नहीं हैं। इन सब का वर्तमान में संयोग भविष्य में वियोग करने वाला है। इसलिए ये सब अस्थिर हैं, असार हैं।

वास्तव में जो अपना स्वभाव नहीं है; विभाव या परभाव है, संयोग या संयोगी भाव है, उस में अपनत्व तथा ममत्व बुद्धि स्थापित कर प्राणी उसे स्थायी रखना चाहता है, लेकिन यह कैसे हो सकता है? जो पुद्गल है, जिसका पूरन, गलन स्वभाव है उसे ध्रुव, स्थिर, किंवा अपरिणामी कैसे बनाया जा सकता है? इसलिए विषय-भोगों की तरफ से दृष्टि हटा कर अपने त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानानन्दमय स्वभाव से उत्पन्न अतीन्द्रिय, अविनाशी सुख को प्राप्त करने का उपाय करना योग्य है। पर्याय को अनुकूल बनाने के चक्कर में लोग बहुत परेशान व दुःखी हुए; अब पर्याय बुद्धि छोड़कर स्वभाव की ओर सन्मुख होना ही श्रेयस्कर है।

---

1. 'याण' अ प्रति। 2. 'भिच्च' प्रकाशित प्रतियाँ।
3. 'संबंधीणो वि चिय' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सामग्गिंदियरूवं, आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं, सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ।।४।।

सामग्रेन्द्रियरूपमारोग्यं यौवनं बलं तेजः।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ।।४।।

अर्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, रूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य— ये सब इन्द्रधनुष के समान चंचल हैं, सदा बने रहने वाले नहीं हैं।

भावार्थ—वस्तु का जैसा स्वरूप है, वह सदा वैसा ही है। वस्तुतः वस्तु नित्य है, पर्याय अनित्य है। पुद्गल द्रव्य नित्य है, लेकिन बचपन, यौवन, बुढ़ापा अस्थिर है। शरीर का बाहरी रूप सदा काल एक-सा नहीं रहता। उसमें परिवर्तन होता ही रहता है। जिसमें पहले चमक-दमक थी, वही आज कान्तिहीन है। जो पहले सुरूप, सुन्दर था, आज वही कुरूप तथा विरूप है। इस प्रकार पर्याय में निरन्तर परिवर्तन देखा जाता है।

वास्तव में संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का ज्ञान होने पर भी ज्ञानियों के चित्त में यह चिन्तन चलता ही रहता है कि जिसका संयोग है, उसका नियम से वियोग है। रागात्मक विकल्प होना अलग बात है और उनको अपना मानना अलग बात है। कर्म के उदय में उत्पन्न होने वाले भाव उदित होते हैं, लेकिन वह उनसे संयुक्त नहीं होता; उनको अपना नहीं मानता है। अज्ञान से उत्पन्न आकुलता, व्याकुलता दूर करने के लिए संयोगों तथा पर्यायों की अस्थिरता व क्षणभंगुरता का चिन्तन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। राग-द्वेष में संसरण (चलने) का नाम संसार है। जहाँ परिवर्तन है वहाँ द्वैत है। इसलिये संसार, शरीर, भोग, आदि की क्षणभंगुरता तथा असारता का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी, संयमी-असंयमी सभी के लिए उपयोगी है। क्योंकि जगत की क्षणभंगुरता को समझ कर हमें अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख होना है। कविवर पं. जयचन्द्रजी के शब्दों में—

द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, परजयनय करि गौन।।
पर द्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत-शोध।।

हमारा प्रेम पर्याय से है; वस्तु से नहीं। वस्तु अपने भाव में स्थिर है। लेकिन पर्याय की अस्थिरता देखकर हम अस्थिर हो जाते हैं, जिससे राग, द्वेष, मोह रूप संसार में घूमते रहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

जलबुब्बुद—सक्कधणु—खणरुचि घणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदि पज्जाया॥५॥

जलबुद्बुद्-शक्रधनुः—क्षणरुचि-घनशोभेव स्थिरं न भवेत्।
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृतिपर्यायाः॥५॥

अर्थ—अहमिन्द्र के पद तथा बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती आदि की पर्यायें जल के बुलबुले, इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ की शोभा की भाँति स्थिर नहीं हैं अर्थात् क्षणभंगुर हैं।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि बड़े-बड़े इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियों के पद, बड़े-बड़े महल, भवन, रथ, हाथी, घोड़े देखते-देखते पल भर में नष्ट हो जाते हैं, तो फिर साधारण मनुष्यों की बात ही क्या है? मनुष्य को अधिकार मिलते ही वह अपने आप को राज्य का, पद का, वैभव का स्वामी मानने लगता है। उसे सम्पदा-वैभव का अभिमान हो जाता है। मालकियत की यह भावना उसे परिग्रह की दास बना देती है। लेकिन देश की सम्पूर्ण विभूति क्षणभंगुर है। इसलिए जो इससे ममता करता है, वह अन्त में एक दिन पछताता है।

शरीर से सम्बन्ध रखने वाले माता-पिता, स्त्री-पुत्र, काका-बाबा, नौकर-चाकर, मित्र, आदि के सम्बन्ध भी स्थायी नहीं है। जिस तरह ग्रीष्म ऋतु में चौराहे के बीच खड़े हुए घनी शीतल छाया वाले वृक्ष के नीचे अनेक गाँवों से आने-जाने वाले यात्री कुछ देर विश्राम करके अपने-अपने घरों में लौट आते हैं, वैसे ही जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा करने वाले जीव लोक रूपी चौराहे पर स्थित पर्याय रूपी वृक्ष की छाया में ठहर कर यदि अपने शुद्ध स्वभाव के घर में लौट आते हैं और स्थिर होकर वहीं रम जाते हैं, तो निर्वाण या शाश्वत सच्चे सुख की प्राप्ति हो जाती है; अन्यथा यात्रा चलती रहती है। मुसाफिरी का नाम ही संसार है। इस मुसाफिरी में जहाँ इसे अपनापन दिखता है, वहाँ स्वार्थ बुद्धि कर रम जाता है और जहाँ प्रतिकूलता जान पड़ती है, वहाँ से हट जाता है। मुसाफिरी करना अच्छा नहीं है; दुःख ही है—यह भाव कभी उत्पन्न नहीं होता। वास्तव में सम्बन्ध दुःख के कारण हैं, अस्थिर हैं, आकुलता-व्याकुलता उत्पन्न करने वाले हैं। कविवर पं. दीपचन्द्रजी के शब्दों में—

द्रव्य दृष्टि से वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार।
तासे योग-वियोग से, हर्ष-विषाद निवार॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

जीवणिबद्धं देहं, खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि॥६॥

जीवनिबद्धो देहः क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारणद्रव्यं नित्यं कथं भवति॥६॥

अर्थ—जब जीव से सम्बद्ध दुग्ध मिश्रित जल की भाँति यह शरीर ही शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब भोग-उपभोग के कारण जो द्रव्य (स्त्री, मकान, धन, आदि) हैं, वे कैसे नित्य हो सकते हैं?

भावार्थ—कोई भी सम्बन्ध सच्चा और स्थायी नहीं है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि आयु के समाप्त होते ही यह जीव एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। अतः इस शरीर के सब सम्बन्ध टूट जाते हैं, भोग-उपभोग की चेतन-अचेतन सभी तरह की सामग्री यहीं पर पड़ी रह जाती है। कोई भी वस्तु जीव के साथ परलोक में नहीं जाती है।

जिस प्रकार चेतन-अचेतन द्रव्य जीव से भिन्न हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह, आदि संयोगी परभाव भी जीव से भिन्न हैं। इनका सम्बन्ध एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध है। "समयसार" (गा. ५७) में कहा गया है—

रागादिक भावों के साथ संसारी जीव का एक क्षेत्रावगाह संयोग सम्बन्ध है। जिस तरह दूध का जल के साथ मिली हुई अवस्था में एक क्षेत्रावगाह संयोग सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग सम्बन्ध है। परन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जिस तरह तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसा तादात्म्य सम्बन्ध जीव का कर्म के साथ नहीं है। अतः कर्मबन्ध रहित मुक्त अवस्था में जीव के साथ रहने वाले रागादिक भाव शुद्ध स्वभाव तथा स्वरूप की अपेक्षा जीव से भिन्न हैं, क्योंकि उपयोग के कारण वह रागादिक भाव से भिन्न ही झलकता है। अतएव वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं। उपयोग के द्वारा जीव भिन्न ज्ञात होता है। स्वभाव में या विभाव में रहना उपयोग से होता है। कर्म के निमित्त से होने वाले परिणाम को उपयोग कहा गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

परमट्ठेण दु आदा, देवासुर-मणुवराय-विभवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा, सस्सदमिदि चिंतए[1] णिच्चं॥७॥

परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुजराजविभवैः।
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेन्नित्यम्॥७॥

अर्थ—परमार्थ से (शुद्ध निश्चय नय से) तो आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजाओं के वैभवों से भिन्न है। वह आत्मा सदा शाश्वत है—ऐसा नित्य चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—वास्तव में जो हमारी वस्तु है वह शुद्ध चिदानन्द स्वरूप भगवान् आत्मा है। इसका वैभव लोक की अन्य वस्तुओं से भिन्न है। जीव अखण्ड, ज्ञानानन्द स्वभावी है। यह सभी पदार्थों से विलक्षण, निराला है। "समयसार" (गा. २७७) में कहा है—

स्पष्ट रूप से मेरी एक शुद्ध आत्मा है। परमार्थ से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग है। योग का अर्थ निर्विकल्प समाधि है। शुद्ध आत्म-स्वरूप विज्ञानघन चेतन मेरा रूप है।

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक, अविनाशी है। संयोगों और पर्यायों से भिन्न यह नियत तथा अविनाशी है। क्योंकि संयोगी पर्यायांश अनित्य है। उनका विचार करते हुए लक्ष्य में नित्य, ध्रुव, स्थिर, निज स्वभाव ग्रहण करने योग्य है। अनित्य भावना के द्वारा आचार्य नित्य का ही लक्ष्य कराना चाहते हैं। ध्यान व चिन्तन के समय अखण्ड एक ज्ञायक भाव ही ध्यान का विषय होना चाहिए। वास्तव में क्षणभंगुरता का वैराग्यमूलक चिन्तन ही अनित्य भावना का मुख्य उद्देश्य है। जो ध्रुव है, उसका जन्म-मरण नहीं है। इसलिए त्रिकाली शुद्धात्मा ही आराध्य है। उससे विमुख पर्याय ही संसार है। कवि के शब्दों में—

संयोग क्षणभंगुर सदा ही आत्मा ध्रुवधाम है,
पर्याय लयधर्मा परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है।
उस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है,
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥

भैया भगवतीदास के शब्दों में—

धर्म सु आप स्वभावहि जान, आप स्वभाव धर्म सोई मान।
जब वह धर्म प्रगट तोहि होय, तब परमातम पद लखि सोय॥

---

1. 'चिंतये' अ प्रति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

२

[अशरणानुप्रेक्षा]

(गाहा)

मणि-मंतोसह-रक्खा, हय-गय-रहओ[1] य सयलविज्जा य[2]।
जीवाणं ण हि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि॥८॥

मणिमन्त्रौषधरक्षाः हयगजरथाश्च सकलविद्याश्च।
जीवानां न हि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये॥८॥

अर्थ—*मृत्यु का समय आने पर तीनों लोकों में मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक, हाथी, घोड़े, रथ तथा सम्पूर्ण विद्याएँ जीवों को मरने से बचाने में समर्थ नहीं हैं।*

भावार्थ—सच में संसार की दशा विचित्र है। तीनों लोकों में जितने भी प्राणी हैं, वे सब काल के अधीन हैं। मृत्यु-काल आने पर वह यह नहीं देखता कि कौन क्या है, क्या कर रहा है, भले ही पूजा-पाठ कर रहा हो, ध्यान में या नींद में हो, लेकिन काल के आते ही जीव को कूच करना पड़ता है। उस समय में मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, तरह-तरह के रक्षक सभी रखे रह जाते हैं। कोई भी काल से बचाने में समर्थ नहीं होता।

वास्तव में जीवन-मरण आयुकर्म के अधीन हैं। जब तक आयुकर्म की स्थिति है, तब तक शरीर टिकता है। आयुकर्म की स्थिति समाप्त होते ही शरीर एक समय के लिए भी जीव के साथ नहीं रह सकता। वर्तमान पर्याय को छोड़ने का नाम मरण है तथा नवीन पर्याय को धारण करने का नाम जन्म है। जन्म-मरण का सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है। जब तक यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर सदा के लिए अपने में लीन नहीं होता, तब तक कर्मों से मुक्त नहीं होता और जन्म-मरण के दुःख भोगता ही रहता है।

वर्तमान जीवन का समय नियत है। यह एक समय के लिए भी घट-बढ़ नहीं सकता। जो घट-बढ़ सकता है, वह नियत नहीं है। किन्तु द्रव्य नियत है, द्रव्य-स्वभाव नियत है और द्रव्य में परिणमनशील प्रत्येक समय की पर्याय नियत है। पर्याय एक समय तक टिकती है, दूसरे समय में वह बदल जाती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है। वस्तु में वसने वाले नियत गुण कभी भी अपने रूप को छोड़ कर अन्य रूप नहीं होते। वस्तु की यही मर्यादा है।

---

1. 'रह सुहड' अ, ब प्रति।
2. 'विज्जाओ' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सग्गो हवे हि[1] दुग्गं, भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो[2] गइंदो, इंदस्स ण विज्जदे सरणं॥९॥

स्वर्गो भवेद्धि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरणं वज्रम्।
ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणम्॥९॥

अर्थ—स्वर्ग जिसका किला है, देव जिसके नौकर-चाकर हैं, वज्र जिसका हथियार है, ऐरावत हाथी जिसकी सवारी है, ऐसे इन्द्र के लिए भी कोई शरण नहीं है।

भावार्थ—लोक में भौतिक साधनों की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध तथा शक्तिशाली इन्द्र है। उसके किले में प्रवेश कर कोई उसे मार नहीं सकता। देव उसके रक्षक हैं। वे प्रत्येक क्षण उसके आदेश का पालन करते हैं। इन्द्र के पास इतनी श्रेष्ठ सामग्री होने पर भी जब कोई उसे मृत्यु से बचा नहीं सकता, तो फिर साधारण दीन-हीन जनों की क्या बात है? संसारी जीवों को मृत्यु से कौन बचा सकता है?

यथार्थ में जो भयवान हैं, उनका मरण नियम से होता है। किन्तु जिनकी जीवन की, धन की आशा नष्ट हो गई है, उनका विधाता, कर्म भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। इसलिए मरण अज्ञानी का होता है; ज्ञानी का नहीं। ज्ञानी तो कहते हैं—

अब हम अमर भये न मरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन कारन मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे?

अपने ध्रुव स्वभाव में रमने, जमने वाले वस्तुतः निर्भय होते हैं। इसलिए वे अमर ही होते हैं। नियम से आत्मा का प्राण ज्ञान है जो नित्य है। ज्ञान का कभी नाश नहीं होता। इसलिए ज्ञानी का कभी मरण नहीं होता। ज्ञान अमृत है। इसलिए जो ज्ञान का पान करता है वह अमर हो जाता है।

वास्तव में शरीर के उत्पन्न होने से जन्म और वियोग से मरण कहा जाता है। चेतन का न तो कभी जन्म होता है और न मरण होता है। आत्मा त्रिकाली, ध्रुव, अमर है। कविवर बुधजन के शब्दों में—

शरण तो इक धर्म आतम जाहि मुनि जन गहत हैं।

---

1. 'हवेइ' अ प्रति।
2. 'एरावणो' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णवणिहि-चउदहरयणं, हय-मत्तगइंद[1]-चाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं, पेच्छंतो कद्दिये[2] कालें॥१०॥

नवनिधयः चतुर्दशरत्नानि हयमत्तगजेन्द्र-चतुरङ्गबलम्।
चक्रेशस्य न शरणं पश्यत कर्दितः कालेन॥१०॥

अर्थ—नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मतवाले हाथी और चतुरंग सेना भी मृत्यु के सन्मुख चक्रवर्ती के लिए शरणभूत नहीं है।

भावार्थ—मृत्यु का समय आने पर चक्रवर्ती का वैभव तथा अन्य अनेक साधन भी उसके लिए शरण-स्थान नहीं हैं। वास्तव में मरण-काल में कोई शरण देने में समर्थ नहीं है। नौ निधियाँ, (कालनिधि, महाकालनिधि, पिंगलनिधि, नैसर्पनिधि, पद्मनिधि, महापद्मनिधि, पाण्डुनिधि, शंखनिधि, रत्ननिधि), चौदह रत्न (सेनापति, गृहपति, शिल्पकार, पुरोहित, स्त्री, हस्ति, अश्व, ये सात सजीव रत्न तथा काकिनी मणि, चक्ररत्न, चूड़ामणि, चँवर, छत्र, खड्ग और दण्ड ये अजीव रत्न इस प्रकार १४ रत्न हैं), तरह—तरह के १८ करोड़ घोड़े, मदोन्मत ८४ लाख हाथी और चार प्रकार की सेना (पदाति-पैदल चलने वाली, अश्वारोही, हाथी तथा रथ पर बैठ कर युद्ध करने वाली) भी चक्रवर्ती सम्राट् को मृत्यु से नहीं बचा सकती है।

प्रत्येक पर्याय के जन्म का तथा भंगुर देह, आदि का मरण समय नियत है। जिस प्रकार प्रत्येक समय में परिणमन होना नियत है, उसी प्रकार जन्म तथा मरण नियत है। उसे कोई टाल नहीं सकता। विशाल सम्पदा से सम्पन्न जब बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् काल को नहीं टाल सकते, फिर साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या करें?

काल की गति तथा वर्तना नियत है। प्रत्येक समय में निज सत्ता की अनुभूति होना ही वर्तना है। काल सदा अपने स्वभाव में व्यवस्थित है। काल एक ऐसा द्रव्य है जिसमें अचेतन, अमूर्त, सूक्ष्म तथा अगुरुलघु, आदि साधारण गुण एवं वर्तना असाधारण गुण पाये जाते हैं। काल अणुमात्र है। काल के अति सूक्ष्म अविभागी अंश को समय कहते हैं। आँख के एक पलक झपकने में जितना समय लगता है, उतने में असंख्यात समय बीत जाता है।

---

1. 'मत्तगयंद' अ प्रति।
2. 'कद्दिढये'

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

जाई-जर[1]-मरण-रोग-भयादो[2] रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं, बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो॥११॥

जातिजरामरणरोगभयता रक्षति आत्मानमात्मा।
तस्मादात्मा शरणं बन्धोदयसत्वकर्मव्यतिरिक्तः॥११॥

अर्थ—जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करने वाला स्वयं आत्मा है। इसलिए कर्मों के बन्ध, उदय और सत्ता से रहित शुद्ध आत्मा ही शरण है।

भावार्थ—अनादि काल से यह जीव संयोगों में परपदार्थों तथा परभावों के साथ रहा है, इसलिए उनका ही सहारा, शरण लेना चाहता है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि आकुलता-व्याकुलता से बचकर सुखी होने के लिए केवल शुद्धात्मा ही शरण है। पाँचों परमेष्ठी जिस शुद्धात्मा की शरण ग्रहण करते हैं, वही शुद्धात्मा शरणभूत है।

वस्तु का परिणमन सहज है। इसलिए जब जैसा होना है, वैसा होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। लेकिन वस्तु-स्वभाव का परिचय न होने से यह पर (दूसरे) का सहारा ढूँढता है। इस धरती पर ऐसे विख्यात बलवान महापुरुष हो चुके हैं, जिनकी हुंकार मात्र से शत्रुओं के कुल काँपते थे, जिनके विहार करने से धरती धँसने लगती थी, जिनके मुष्टि-प्रहार से पर्वत चूर-चूर हो जाते थे, उनका भी आज कोई पता नहीं है; फिर, दीन-हीन साधारण प्राणियों की क्या दशा है? मृत्यु से इन को बचाने वाला, संकट में शरण देने वाला कौन है? जो स्वयं मृत्यु के वश में हैं, काल के अधीन हैं, वे क्या दूसरे को बचा सकते हैं? संसार को असार इसीलिये कहा जाता है। यहाँ पर वास्तव में कोई बचाने वाला नहीं है। कहा भी है—

यो संसार असार महान, सार आप में आपा जान।
सुख तै दुःख दुःख तै सुख होय, समता चारों गति नहिं कोय॥

—बुधजन

तथा—

शरण न जिय को जगत में, सुर नर खगपति सार।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार॥

—पं. दीपचन्द

---

1. 'जरा' अ प्रति।
2. प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

अरुहा[1] सिद्धाइरिया, उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चेट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥१२॥

अर्हत्सिद्धाचार्या उपाध्यायसाधुपरमेष्ठिनः पंच।
ते पि हि चेष्ट्यन्ते खलु आत्मनि तस्मादात्मा हि मे शरणम्॥१२॥

अर्थ—*अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी अपनी शुद्धात्मा में विलास करते हैं। इसलिये शुद्धात्मा ही एक मेरे लिए शरण है।*

भावार्थ—ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव में रहते हैं। इसलिये उनके लिए वही शरण है। निश्चय से जीवमात्र के लिए आत्मा शरण है। सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध चिदानन्द रूप स्वभाव में रमण करते हैं—यही उनके लिए शरण है। जो निज स्वभाव का अनुभव करता है, उसके लिए अन्य कोई शरण नहीं है। पंच परमेष्ठी व्यवहार से शरण कहे जाते हैं। वास्तव में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों ही आत्मा की अपनी अवस्थाएँ हैं। ये सभी अवस्थाएँ निज स्वभाव की शरण ग्रहण करने पर ही उत्पन्न होती हैं।

शरण किसी एक का लिया जा सकता है। यदि परम इष्ट की शरण में जाने के बाद अन्य की शरण लेने की आवश्यकता बनी रहती हो, तो वह वास्तविक शरण नहीं है। शरण तो वही है जिसका आश्रय लेने पर अन्य के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। शरण में जाकर जीव सदा के लिए उस में मग्न हो जाता है—यही परमार्थ भक्ति है।

वास्तव में अपना स्वभाव ही शरण है। अपने शुद्ध स्वभाव में अचल होने पर, फिर अन्य का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आप के लिए परमार्थ से आप ही शरण हैं। अन्य के सहारे की इच्छा करना कल्पना मात्र है। आगम में शुद्धात्मा, पंच परमेष्ठी, धर्म तथा रत्नत्रय को भी शरण कहा गया है। वस्तुतः ये सभी शुद्ध स्वभाव में वसे हुए हैं।

जो अपने शुद्ध स्वभाव का एक बार भी आश्रय ले लेता है, उसके अन्य किसी के शरण में जाने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। कहा भी है—

"अण्णो ण मज्झ सरणं, सरणं सो एक्क परमप्पा।" अर्थात् एक परमात्मा ही मेरे लिए शरण है; अन्य कोई शरण नहीं है।

1. 'अरहंत' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चेट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥१३॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव।
चत्वारि चेष्ट्यन्ते आत्मनि तस्मात् आत्मा हि मे शरणम्॥१३॥

अर्थ--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मा में ही विलास करते हैं, इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है।

भावार्थ—यह निश्चित है कि बड़ी से बड़ी शक्ति भी मरने से किसी को नहीं बचा सकती। इसलिये भगवान् भी शरण नहीं है। अपने आत्म-स्वभाव में मग्न होने पर व्यवहार से भगवान् (परमेष्ठी) शरण कहे जाते हैं। वास्तव में वह निज आत्मा की ही अवस्था विशेष है। उस अवस्था रूप परिणमन करने पर भगवत्-दशा स्वयं प्रकाशित होती है; तब पंच परमेष्ठी या भगवान् शरण हैं, ऐसा कहने में आता है।

निश्चय से अपना श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, आत्मध्यान करना सम्यग्ज्ञान और अपने में रमना सम्यक्चारित्र है। व्यवहार से ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन निश्चय से तीनों में अभेद है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं। जिस समय सम्यग्दर्शन है, उस समय आत्मा की उपलब्धि या भेद-विज्ञान अवश्य है। साथ में स्वरूपाचरण चारित्र भी है। अतः स्वभाव के सन्मुख होने पर उसकी तात्कालिक दृष्टि में भेद नहीं है। उस समय उपयोग में शुद्ध, अशुद्ध दोनों की सत्ता नहीं होती; केवल शुद्ध आत्म-तत्त्व का अस्तित्व उपयोग में अनुभूत होता है। अन्यत्र उपयोग होने पर उन ज्ञेयों की स्वीकृति उसके ज्ञान में है, तथापि अनुभव-काल में उसकी सत्ता की उपलब्धि नहीं है।

इस प्रकार उपयोग में वीतराग स्वभाव का अनुभव करना सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन निर्विकल्प दशा में ही होता है। अतः एक बार वीतराग ज्ञायक प्रभु का शरण ग्रहण करने पर सम्यक् आराधना प्रारम्भ हो जाती है। सच्ची साधना या आराधना वह है जिसमें कोई चाह शेष नहीं रहती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

३

[एकत्वानुप्रेक्षा]

(गाहा)

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥१४॥

एकः करोति कर्म, एको हिण्डति च दीर्घसंसारे।
एको जायते म्रियते च, तस्य फलं भुङ्क्ते एकः॥१४॥

अर्थ—जीव अकेला कर्म करता है, अकेला विशाल संसार में परिभ्रमण करता है, अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला ही अपने किए हुए कर्म का फल भोगता है।

भावार्थ—प्रत्येक स्थिति तथा गति में यह जीव सदा काल अकेला रहता है। यह निरन्तर संयोग चाहता है, किन्तु वास्तव में इसका साथ देने वाला कोई नहीं है। कहने के साथी बहुत हैं, लेकिन सदा साथ रहने वाला कोई नहीं है। यह जीव अकेला विकल्प-जाल बुना करता है और सदा उनके साथ रहता है। इसी का नाम संसार है। इसके साथ इसकी एकत्व बुद्धि है अर्थात् इन विकल्पों से अपने को भिन्न नहीं समझता है। यह जीव संकल्प-विकल्प ही करता है और उनको ही भोगता है अर्थात् उनके साथ एकमेक हो जाता है। संकल्प-विकल्पों के सिवाय फिलहाल इसका साथ देने वाला कोई नहीं है।

विचार कर देखा जाए, तो जन्म में, मरण में, जीवन में, सुख-दुःख की प्रत्येक स्थिति में यह जीव अकेला ही स्वयं कृत कर्म का फल भोगता है। जो करने वाला है, जिसने किया है, वही भोग करने वाला है। ऐसा कभी नहीं होता कि करने वाला कोई दूसरा हो और भोगने वाला अन्य हो। कविवर भूधरदास के शब्दों में—

आप अकेलो अवतरे, मरे अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥

तथा—

शुभ-अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत-दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी॥

—पं. दौलतराम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥१५॥

एकः करोति पापं, विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन।
निरयतिर्यक्षु जीवो, भुङ्क्ते तस्य फलमेकः॥१५॥

अर्थ—*संसार के विषयों के निमित्त से तीव्र लोभ के कारण जीव अकेला पाप कर्म करता है और नरक-तिर्यन्च गति में अकेला ही उस पाप कर्म का फल भोगता है।*

भावार्थ—कर्म करने में जीव अकेला है और भोगने में भी अकेला है। चेतन का कर्म अचेतन नहीं कर सकता और अचेतन का कर्म चेतन नहीं कर सकता। करने वाला और भोगने वाला यह स्वयं आप है। यह जैसे भाव करता है, वैसे ही भोगता है।

व्यवहार से यह जीव अपने उपयोग तथा मन, वचन, काय की क्रिया (योग) के सिवाय कुछ नहीं कर सकता है। यह स्पष्ट रूप से देखने में आता है कि यह प्राणी अपने शरीर के पालन-पोषण के निमित्त तरह-तरह के पाप करता है। पाप करने के फलस्वरूप यह खोटी गति में जा कर दुःखों को अकेला ही भोगता है। वहाँ पर भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, आदि कोई भी इसका सहायक नहीं होता। इसी प्रकार शुभ भावों तथा क्रियाओं के फलस्वरूप मनुष्य-देवगति प्राप्त करता है। वहाँ पर तरह-तरह के लौकिक सुख यह जीव अकेला भोगता है। इस प्रकार संसार की चारों गतियों में यह सुख-दुःख अकेला ही भोगता है। जिसे करना कहता है, जिसे भोगना कहता है, वह कल्पना तथा इच्छा विशेष के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। कविवर मंगतरायजी के शब्दों में—

भोगि पुण्यफल हो इक इन्द्री, क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही, फिर खुरपा अरु जाली॥
मानुष जन्म अनेक विपत्तिमय, कहीं न सुख देखा।
पंचम गति सुख मिले, शुभाशुभ को मेटो लेखा॥
तथा—
पाप पुन्य सों जीव जगत में, नित सुख-दुख भरता।
अपनी करनी आप भरे सिर, औरन के धरता॥

—मंगतराय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

एक्को करेदि पुण्णं, धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥१६॥

एकः करोति पुण्यं, धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन।
मनुजदेवेषु जीवो, भुङ्क्ते (हि) तस्य फलमेकम्॥१६॥

अर्थ—जीव अकेला धर्म के निमित्त पात्र-दान दे कर पुण्य करता है और उस पुण्य का फल अकेला ही मनुष्य तथा देवगति में भोगता है।

भावार्थ—धर्म तो वीतराग भाव में है। वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए राग भाव छोड़ना पड़ता है। बाह्य वस्तु राग भाव छोड़ने में निमित्त है। इसलिए बाहरी वस्तुओं से सम्बन्ध छोड़ना पड़ता है। यदि यह बाहर से वस्तु का त्याग करता है, किन्तु राग भाव नहीं छोड़ता है तो दान देकर वास्तविक पुण्य का लाभ प्राप्त नहीं करता है। शुभ परिणाम का फल पुण्य है। शुभ परिणाम भी अनन्त प्रकार के होते हैं। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय, विषय, आदि का हेतु है, उसे सामान्य रूप से पुण्य कहा गया है। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ के जघन्य अनुभाग बन्ध के भी कारण होते हैं, लेकिन थोड़ा अपकार करने पर भी जो बहुत उपकार करता है, उसे उपकारी ही कहा जाता है। इसी प्रकार शुभ परिणाम पुण्य का कारण कहा गया है। नरक गति तो बहुत दुःखों से भरी कही जाती है। क्योंकि वहाँ पर प्राणियों में बहुत संक्लेश परिणाम देखे जाते हैं। संक्लेश परिणाम उत्पन्न होने के निमित्त ही सामग्री नरक गति में पाई जाती है। तिर्यन्च गति में भी पराधीनता, अज्ञानता तथा संक्लेश परिणाम होने से अशुभ परिणामों की ही बहुलता होती है। मनुष्य और देवगति ही ऐसी है जहाँ प्राणी शुभ परिणाम अधिक से अधिक कर सकता है। लेकिन उत्कृष्ट शुभ परिणाम धर्म के निमित्त होते हैं और सामान्य शुभ परिणाम विषय—भोगों के निमित्त होते हैं। कहा है—

सुरगति में पर-संपत्ति देखे, राग उदय दुख होई।
मानुष योनि अनेक विपत्तिमय, सर्व सुखी नहिं कोई॥

तथा—जो संसार विषै सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागें।
काहे को शिव—साधन करते, संयम सों अनुरागें॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

उत्तमपत्तं भणियं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिमपत्तो त्ति[1] विण्णेओ॥१७॥

उत्तमपात्रं भणितं, सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः।
श्रावकः सम्यग्दृष्टिः, मध्यमपात्रं हि विज्ञेयः॥१७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन से सहित साधु को उत्तम पात्र कहा गया है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिए।

भावार्थ—जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन के बिना कोई सुपात्र नहीं होता। सम्यक्त्व, शील और व्रत से रहित जीव अपात्र कहा गया है। जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है। महाव्रतधारी साधु भी यदि मिथ्यादृष्टि है तो कुपात्र है; पात्र नहीं। सामान्य भिखारी जन तो यहाँ अपात्र की कोटि में गिने जाते हैं[2]; क्योंकि उन को दान देने योग्य नहीं माना गया है।

दान के देने से चतुर्विध संघ की स्थिरता होती है। इसलिए दान देने से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति बनी रहती है, ऐसा कहा जाता है। यदि पात्र उत्तम हो, दाता की भक्ति श्रेष्ठ हो और दान भी उत्तम हो, तो उसका फल भी उत्तम होता है।

सभी दानों में आहार दान प्रथम तथा मुख्य है। भोजनदान से सब को सुख होता है। आहार देने पर तीनों दान सम्पन्न हुए कहे जाते हैं। क्योंकि भोजन के बल से साधु दिन भर शास्त्र का अध्ययन करते हैं। भूख-प्यास रोग के मिटाने में तो भोजन निमित्त है ही; किन्तु आहार से प्राणों की रक्षा होती है, इसलिए वह अभय देने वाला है। इस प्रकार आहार दान में औषध-शास्त्र-अभय दान तीनों गर्भित हो जाते हैं। कविवर द्यानतरायजी के शब्दों में—

बिन धन घर शोभा नहीं जी, दान बिना पुनि गेह।
जैसे विषयों तापसी जी, धर्म दिया बिन तेह॥

1. 'हु' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम संस्करण, भा. 3, पृ. 52 से उद्धृत।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिद्दिट्ठो जिणसमये, अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ[1], अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो॥१८॥

निर्दिष्टो जिनसमये, अविरतसम्यक्त्वो जघन्यपात्रमिति।
सम्यक्त्वरत्नरहितः, अपात्रमिति संपरीक्ष्यम्॥१८॥

अर्थ—जिनागम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है। जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित है, वह अपात्र है। अतः पात्र की भलीभाँति परीक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना धर्म की योग्यता प्रकट नहीं होती। इसीलिए कहा गया है—सम्यग्दृष्टि जीव दृढ़ चित्त होकर यदि एक व्रत का अतिचार (दोष) रहित निर्मल पालन करता है, तो अनेक प्रकार की ऋद्धियों सहित इन्द्रपद को नियम से पाता है। (कार्तिकियानुप्रेक्षा, गा. ३७०)

अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती के भेद से आगम में रुचि रखने वाले तथा तत्त्व विचार करने वालों के भेद से जिनेन्द्र भगवान् ने हजारों प्रकार के पात्र बतलाये हैं। (रयणसार, गा. १२३)

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। अतः आत्म-तत्त्व में, अपने आप में तथा आगम में एवं तत्त्व में रुचि रखने वाले जघन्य पात्र कहे गये हैं। वास्तव में पात्रता का आधार सम्यक्त्व ही है। सम्यग्दर्शन रत्न से विभूषित होने पर जीव रत्नत्रय से अलंकृत हो जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को मोक्ष-मार्गी तथा पात्र माना गया है। यथार्थ में जो रत्नत्रय में स्थित है, वह उत्तम पात्र है। स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—जिस पुरुष ने परम भक्ति से साधु-संघ को दान दिया है, उसने उनको रत्नत्रय में स्थापित किया है। (कार्तिकियानुप्रेक्षा, गा. ३६५)

---

1. 'सम्मत्तरयणरहियो' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

एक्को खवेदि कम्मं, अइविसम जोण्हकहिय—मग्गेण।
मोक्खसुहं उक्किट्ठं, एक्को अणुहवइ[1] सुद्धप्पा॥१९॥

एकः क्षपयति कर्ममतिविषमं जिनकथित-मार्गेण।
मोक्षसुखमुत्कृष्टमेकमनुभवति शुद्धात्मा(नूनम्)॥१९॥

अर्थ—*जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित शुद्ध रत्नत्रय की साधना से यह जीव अकेला अत्यन्त विषम कर्मों का क्षय कर देता है। वस्तुतः मोक्षसुख उत्कृष्ट है। यथार्थ में सच्चे सुख के मार्ग में चलने वाला अकेला हो कर निज शुद्धात्मा का अनुभव करता है।*

भावार्थ—एकाकी, निःसंग होकर ही यह जीव कर्मों के सम्बन्ध से अलग हो जाता है। वास्तव में जीव और कर्म द्रव्य-दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन जब तक यह भिन्नता भासित नहीं होती और अपने शुद्ध स्वभाव में अकेला रह कर अपने आपका अनुभव नहीं होता, तब तक अन्यत्व का बोध नहीं होता। राग तथा देहादिक से भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वरूप का सेवन करना ही अन्यत्व भावना की सफलता है। अपने आप का चिन्तवन करने वाला अपने स्वरूप से भिन्न आप को नहीं समझता। उसकी सदा यही भावना रहती है कि मैं एक, अखण्ड, शुद्ध, त्रिकाली, चैतन्य स्वरूप ज्योति हूँ। कविवर बुधजनजी के शब्दों में—

जब चितवत अपने माहिं आप, हूँ चिदानन्द नहीं पुण्य-पाप।
मेरो नाहीं है राग भाव, यह तो विधिवश उपजै विभाव॥२॥
हूँ नित्य निरंजन सिद्ध समान, ज्ञानावरणी आच्छाद ज्ञान।
निश्चय शुद्ध इक व्यवहार भेव, गुण-गुणी अंग-अंगी अछेव॥३॥
(छहढाला, तीसरी ढाल)

तथा—

इन्द्रीन तै जाना न जावै, तू चिदानन्द अलक्ष है।
स्वसंवेदन करत अनुभव, होत तब प्रत्यक्ष है॥

पदार्थों की व्यवस्था ज्ञान से है और ज्ञान अपने में नियत, व्यवस्थित है। पं. माणिकचन्दजी 'कौन्देय' के शब्दों में—"यदि ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना न मानोगे, तो इष्ट तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी।" (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. २१८)

---

1. 'अणुभवदि', ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा-उपगीति)

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो, णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयं एवं चिंतेइ[1] संजदो॥२०॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शुद्धैकत्वमुपादेयं, एवं चिन्तयेत् संयतः॥२०॥

अर्थ—संयमी साधु यह चिन्तन किया करता है—मैं एक हूँ, मेरा अन्य कोई नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान मेरा लक्षण है, ऐसा शुद्ध एकत्व ही उपादेय है।

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी सदा यह भावना भाता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ। यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। यह जब तक है, तब तक सदा ही वही है; उसमें दूसरे का उदय नहीं है। वह एकाकार चिन्मात्र है। परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले विभाव-ये सब कोई भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक शुद्ध स्वभाव हूँ। अपने आप को अन्य सभी से भिन्न एकाकार, चिन्मय, ज्ञायक मात्र अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। आत्मा का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन तथा वस्तु-स्वभाव को ज्यों का त्यों जानना; ज्ञाता-द्रष्टा मेरा लक्षण है। जानना, देखना ही मेरा काम है; राग-द्वेष, आदि भाव करना मेरा कार्य नहीं है। यद्यपि नव तत्त्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेक रूप दिखाई पड़ता है, किन्तु वह विभिन्न दशाओं में कदापि चैतन्य चमत्कार मात्र ज्योति को कभी नहीं छोड़ता है। ऐसा एक ज्ञायक स्वरूप ही उपादेय, ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि आत्म स्वभाव से सदा काल उसका एकत्व है। और इसीलिए वही मात्र एक ध्येय है। आचार्य कुन्दकुन्द "समयसार" में कहते हैं—

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममता से रहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण एक वस्तु हूँ। वस्तुतः एक समय के परिणाम और परिणामी से भी भिन्न हूँ। (समयसार, गा. ७३)

---

1. 'चिंतेहि' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४

(अन्यत्वानुप्रेक्षा)

(गाहा)

मादा-पिदर - सहोदर - पुत्त - कलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो, णियकज्जवसेण वट्टंति॥२१॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः।
जीवस्य नहि सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते॥२१॥

अर्थ—*माता, पिता, सहोदर भाई, पुत्र, पत्नी, आदि बन्धुओं के समूह क. जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब अपने-अपने कार्यवश प्रवृत्ति करते हैं।*

भावार्थ—यह स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है कि चेतन प्राणियों में रहने वाला ज्ञान (जानन) भिन्न है और देह भिन्न है। शरीर के सम्बन्ध के कारण ही माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी, आदि का व्यवहार किया जाता है। बिना सम्बन्ध के कोई व्यवहार नहीं होता। संसार के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे या तो राग से हैं या शरीरादि से हैं। वास्तव में जीव (ज्ञान) से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सम्बन्ध समान जाति (सजातीय) में होता है। लेकिन शरीर ऐन्द्रिय है, मैं अतीन्द्रिय हूँ; शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ; शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ; शरीर का आदि-अन्त है, मैं अनादि-अनन्त हूँ। जिस तरह स्वप्न में शरीर का नाश होने पर भी अपना नाश नहीं होता, उसी तरह जाग्रत अवस्था में शरीर का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा ज्ञान आनन्द स्वरूप है। इसलिए ज्ञान, आनन्द से तो जीव का सम्बन्ध है, लेकिन शरीर से सम्बन्धित पुत्र, मित्र, आदि से सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि उनके साथ एकता नहीं है। आचार्य अमितगति कहते हैं—"जिस आत्मा की शरीर के साथ एकता नहीं है, उसकी पुत्र, पत्नी, मित्र के साथ एकता कैसे सम्भव है? शरीर से चमड़ी दूर कर देने पर रोम-छिद्र कैसे रह सकते हैं? उसी तरह जीव के स्वरूप से देह सर्वथा भिन्न है। जब शरीर जीव से भिन्न है, तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले जीव के सम्बन्धी कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

अण्णो अण्णं सोयदि, मदोत्ति मम णाहगो त्ति[1] मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु[2] सोयदि, संसारमहण्णवे बुड्डुं[3] ॥२२॥

अन्योन्यं(हि) शोचति मदीयोस्ति मम नाथक इति मन्यमानः।
आत्मानं नहि शोचति संसार—महार्णवे बुडितम्॥२२॥

अर्थ—*"यह मेरा स्वामी था (जो मर गया)"—ऐसा मानता हुआ व्यक्ति दूसरे के विषय में शोक करता है, किन्तु संसार-समुद्र में डूबा हुआ अपने विषय में शोक नहीं करता।*

भावार्थ—मोह के अधीन होकर यह जीव सदा पराई चिन्ता करता रहता है। पर से ममत्व होने के कारण उनके विषय में शोक करता है कि हाय! मालिक मर गया, क्या करूँ? पुत्र बीमार है, स्त्री मरने वाली है, लक्ष्मी नष्ट हो गई है, कहाँ जाऊँ? इस प्रकार पर पदार्थों के वियोग से तथा अनिष्ट की आशंका से आर्त-रौद्र ध्यान में डूबा रहता है। यह पर की इतनी चिन्ता करता है कि यह भूल जाता है कि स्वयं चिन्ता के समुद्र में डूब गया है, इसका क्या होगा? वास्तव में चिन्ता चिता के समान है। चिन्ता के समान आत्मा का अन्य अहित नहीं है। इसलिए आत्महित करने वाले को चिन्ता की चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

आचार्य अमितगति "योगसार" में कहते हैं—
परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः।
उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते॥

—अधि. ५, श्लोक ११

दूसरे प्राणी का अचेतन शरीर ही दिखाई पड़ता है, किन्तु चेतन आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता। उपकार, अपकार के बनाव में किससे राग किया जाये और किससे द्वेष? क्योंकि शरीर तो राग-विराग को समझता नहीं है। यथार्थ में उपकार-अपकार शरीर का करते हैं, चेतन आत्मा का नहीं। किन्तु यह भी है कि शरीर का उपकार या हित करने पर आत्मा का अपकार या अहित होता है। तत्त्वज्ञानियों का यह कथन है कि आत्मा का उपकार-अपकार करने में वस्तुतः कोई समर्थ नहीं है। इसलिए परपदार्थों में रोष या तोष नहीं करना चाहिए।

---

1. 'णाहओत्ति' अ प्रति।
2. 'दु' अ प्रति।
3. 'बुड्ड' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं॥२३॥

अन्यमिदं शरीरमन्यच्चापि यद् भवेद् बाह्यं द्रव्यम्।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तयेदन्यत्वम्॥२३॥

अर्थ—ये शरीर आदि जो बाहरी द्रव्य हैं, वे सब मुझसे अन्य, भिन्न हैं। आत्मा ज्ञान, दर्शन रूप है (ये सब अन्य हैं)—इस प्रकार अन्यत्व का चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—ये शरीर आदि बाहरी पदार्थ न तो मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। यह शरीर जो मुझे मिला है, वह कर्म के संयोग से है। इसलिए यह मेरा कैसे हो सकता है? मैं इसे अपना मान कर चाहे जितनी सेवा करता रहूँ, लेकिन आयु पूर्ण होने पर शरीर यहीं छूट जाता है। जीव अकेला आता-जाता है, शरीरादि उसके साथ नहीं जाते। पं. दीपचन्दजी के शब्दों में—

जा तन में नित जिय वसे न आपनो होय।
तो प्रतक्ष जो पर दरब, कैसे अपनो होय॥

अर्थात्—जिस शरीर में जीव नित्य रहता है, वह जीव का नहीं होता। जीव को शरीर को छोड़ कर अकेला जाना पड़ता है। तब प्रत्यक्ष रूप से भिन्न दिखलाई पड़ने वाले परद्रव्य अपने कैसे हो सकते हैं?

यद्यपि एक बर्तन में रखे हुए दूध और पानी के संयोग में ऐसा भ्रम हो जाता है कि दोनों एक हैं। लेकिन दूध दूध में रहता है और पानी पानी में। दूध की एक बूँद न तो कभी पानी होती है और न पानी की एक बूँद कभी दूध बन सकती है। इसी प्रकार जीव और शरीर के एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग में शरीर अपने प्रदेशों में पुद्गल परमाणुओं से मिलता-बिछुड़ता रहता है, किन्तु जीव नित्य अपने असंख्यात प्रदेशों में ही स्थित रहता है। इस प्रकार संयोग दशा में भी दोनों एक दूसरे से सदा काल भिन्न रहते हैं। कहा भी है—

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहि भेला।
तो प्रगट जुदे धन-धामा, क्यों है इक मिल सुत रामा॥

—पं. दौलतराम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

५
[संसारानुप्रेक्षा]

(गाहा)

पंचविहे संसारे, जाइ-जरा-मरण-रोग-भयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं।।२४।।

पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरं कालम्।।२४।।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के मार्ग पर श्रद्धान नहीं करता हुआ जीव जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, आदि के भय से भरे हुए पंच प्रकार के संसार (पुद्गल परावर्तन, क्षेत्र परावर्तन, काल परावर्तन, भव परावर्तन और भाव परावर्तन) में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।

भावार्थ—जिनवरों ने आत्मानुभव, आत्मज्ञान और आत्मलीनता रूप जिस मार्ग को देखा था, उससे परिचित नहीं होने के कारण यह जीव संसार में भ्रमण कर रहा है।

राग-द्वेष में चलने का नाम संसार है। जहाँ संसार है, वहाँ इच्छाएँ हैं; जन्म-मरण है। जन्म के साथ ही बचपन, यौवन, बुढ़ापा, आदि अवस्थाएँ धीरे-धीरे प्रकट होतीं, छिपती रहती हैं। तरह-तरह के रोग भी शरीर के जन्म से सम्बन्धित हैं। जन्म-मरण, रोग-भय, आदि वहीं उत्पन्न होते हैं, जहाँ अपनी पहचान नहीं होती। जो सदा निःशंक, निर्भय, निडर होते हैं, उनके किसी भी तरह का भय नहीं होता। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के न तो इस लोक का भय होता है और न परलोक का भय। वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, आकस्मिक जैसे भय भी आत्मज्ञानी के नहीं होते। सात प्रकार के भय अज्ञानी के होते हैं, ज्ञानी में सातों भय नहीं होते। ज्ञानी ज्ञान-भाव में चलता है। इसलिए उसके अनन्त संसार नहीं होता। वास्तव में मिथ्यात्व ही भ्रमण का कारण है। पं. जयचन्द्रजी ने कहा भी है—

पंच परावर्तनमयी, दुःख रूप संसार।
मिथ्याकर्म उदय यहै, भरँमै जीव अपार।।

तथा—

अरु संसार भावना एह, परद्रव्यन सों करे जु नेह।
तू चेतन वे जड़ सरवंग, तातैं तजहु परायो संग।।

—भैया भगवतीदास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सव्वे वि पोग्गला खलु, एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं[1] अणंतखुत्तो, पोग्गल[2]—परियट्टसंसारे।।२५।।

सर्वेऽपि पुद्गलाः खलु एकेन भुक्तोज्झिताः हि जीवेन।
असकृदनन्तकृत्वा पुद्गल-परिवर्तसंसारे।।२५।।

अर्थ—*पुद्गल परावर्तन रूप संसार में इस जीव ने अनन्त बार समस्त पुद्गलों को अकेले ही बहुत बार भोग-भोग कर छोड़ दिया है।*

भावार्थ—संसार में परिभ्रमण पाँच प्रकार का कहा गया है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। यह जीव इस लोक में भरे हुए ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्म रूप पुद्गलों को प्रत्येक समय में मिथ्यात्व, कषाय सहित बाँधता-छोड़ता रहता है। वास्तव में मिथ्यात्व, कषाय के वश में होने से जीव ज्ञानावरणादि कर्मों का समयप्रबद्ध अभव्य राशि से अनन्त गुनी सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग पुद्गल परमाणुओं की स्कन्ध रूप कार्मण वर्गणा को प्रत्येक समय में ग्रहण करता रहता है। पूर्व में ग्रहण किये हुए कर्म-परमाणु सत्ता में बने रहते हैं, जिनमें से इतने ही समय-समय खिरते रहते हैं। इसी प्रकार एक समय में जितने कर्म-परमाणु और नोकर्म-परमाणु बंधे (समयप्रबद्ध), उन को ग्रहण के समय से लगा कर आयु की स्थिति तक शरीर को ग्रहण करना और छोड़ना होता है। परिवर्तन के प्रारम्भिक समय में समयप्रबद्ध में जितने पुद्गल परमाणु; जैसे-स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण, गन्ध, रूप, रस, तीव्र-मन्द-मध्यम भाव से ग्रहण किये गये हों, उतने ही किसी समय में पुनः ग्रहण करने में आये, तो एक कर्म परावर्तन तथा नोकर्म परावर्तन होता है। मध्य में अनन्त बार तरह-तरह के परमाणु ग्रहण होते हैं जो गिने नहीं जाते। जैसे के तैसे पुनः ग्रहण करने में जो अनन्त काल व्यतीत हो जाता है, उसे एक द्रव्य परावर्तन कहते हैं। इस तरह के इस जीव ने इस लोक में अनन्त परावर्तन किये हैं।

---

1. 'असइं' ब प्रति; 'विविहे' अ प्रति।
2. 'पुग्गल' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सव्वम्हि लोयखेत्ते, कमसो त[1]णत्थि ज[2]ण उप्पण्णं[3]।
ओग्गाहणेण[4]बहुसो, परिभमिदो खेत्तसंसारे॥२६॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तन्नास्ति यत्र नोत्पन्नः।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रमितः क्षेत्रसंसारे॥२६॥

अर्थ--इस सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पर क्रम से यह उत्पन्न न हुआ हो। अनेक प्रकार की अवगाहना धारण करके बहुत बार इस जीव ने संसार में क्षेत्र-परिभ्रमण किया।

भावार्थ--सम्पूर्ण लोकाकाश के प्रदेशों में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जिसमें यह जीव कई बार उत्पन्न न हुआ हो। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। उसके मध्य के आठ प्रदेशों को बाध कर सूक्ष्म निगोदिया लब्धि अपर्याप्तक जघन्य अवगाहना का धारी वहाँ पर उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है। इस तरह जितने प्रदेश हैं, उतनी बार तो वह वहाँ अवगाहना पाता ही है। मध्य में अन्य स्थानों पर जहाँ एक प्रदेश की बढ़ती हुई अवगाहना पाता है, जिसकी गणना की जाती है। इस तरह महामच्छ तक की उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण करता है। इस क्रम में लोकाकाश के प्रदेशों का स्पर्श करता है, जिससे एक क्षेत्र-परावर्तन होता है। जैस जल के पात्र में भस्म डालें, तो वह उसमें समा जाती है और यदि नमक या मिश्री डालें, तो वह भी उसमें समा जाती है। इसी प्रकार अवगाहन शक्ति को समझना चाहिए। एक आकाश के प्रदेश में अनन्त पुद्गल के परमाणु द्रव्य रहते हैं। एक जीव द्रव्य के प्रदेश, एक धर्म द्रव्य के प्रदेश, एक अधर्म द्रव्य के प्रदेश और एक कालाणु द्रव्य; ये सभी आकाश के प्रदेश में एक पुद्गल के परमाणु के बराबर रहते हैं। यदि इन सब द्रव्यों में स्वभावतः अवगाहन शक्ति न हो, तो एक-एक आकाश के प्रदेश में सभी द्रव्य कैसे रहते हैं? इसे ही द्रव्य की अपनी योग्यता कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में होने वाला परिणमन तथा कार्य अपनी-अपनी योग्यता से होता है। (पंचास्तिकाय, गा. ६४ तथा प्रवचनसार, गा. १६८)

---

1. 'जं' ब प्रति।
2. 'तं' ब प्रति।
3. 'उप्पण्णो' अ प्रति।
4. 'ओगाहणाय' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

उवसप्पिणि[1]-अवसप्पिणि[2]-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो, परिभमिदो[3] कालसंसारे॥२७॥

उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु।
जातो मृतश्च बहुशः परिभ्रमितः कालसंसारे॥२७॥

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार इसने जन्म लिया, मरण किया और बहुत बार काल-संसार में परिभ्रमण किया।

भावार्थ—उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लगा कर अन्त के समय तक यह जीव अनुक्रम से सब कालों में उत्पन्न होता है और मरता है।

यदि कोई जीव दस कोड़ाकोड़ी सागर के उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में जन्म पाता है, बाद में द्वितीय उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म पाता है तथा तीसरे समय में जन्म पाता है, तो इस अनुक्रम से अन्त के समय तक जन्म पाता रहे; जिसमें बीच के अन्य समयों में बिना क्रम के जन्म पाने की गिनती में नहीं है। इस प्रकार अवसर्पिणी के दस कोड़ाकोड़ी सागर का समय पूरा कर जन्म-मरण कर लेता है, तो अनन्त काल हो जाता है जिसे एक कालपरावर्तन कहते हैं। इस एक काल-परिवर्तन में क्षेत्र के परिवर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है। कहा भी है—

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जन्म काल में लेय।
समयाधिक अपनाय कर, कल्पकाल इमि देय॥
सर्व जघन्य स्थिति धर, समयाधिक से जान।
चारों गति की पर अपर, ग्रैवेयक लों मान॥
स्थिति योग कषाय के, गुणित असंख्यात जान।
थान तिन्हें अपनाय कर, पूरे किये सुजान॥
द्रव्य क्षेत्र अस काल भव, भाव कर्म के थान।
तिनकी गणना ना करो, भाषैं वेद-पुराण।
काल अनन्ता यों बिता, दुख में जग का जीव।
पार कठिनता से लहे, जग दुख पूर्ण अतीव॥

—नथमल

---

1. 'ओस्सप्पिणि' ब प्रति। 'अवसप्पिणि' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'उवसप्पिणी' ब प्रति। 'उस्सप्पिणि' प्रकाशित प्रतियाँ।
3. 'भमणेण दु' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिरयाउजहण्णादिसु, जाव दु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु, बहुसो वि[1] भवट्ठिदि[2] भमिदो॥२८॥

नर्कायुर्जघन्यादिके यावत्तु उपरितनास्तु ग्रैवेयकाः।
मिथ्यात्वसंश्रितेन बहुविधिरपि भवस्थितिः भ्रमितः॥२८॥

अर्थ—*संसारी जीव मिथ्यात्व के सम्बन्ध से नरक की जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक भव-स्थिति ले कर बहुत बार परिभ्रमण कर चुका है।*

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव ही पाँच परावर्तन करता है। क्योंकि अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करने का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व या मिथ्या भाव के कारण ही जीव प्रत्येक समय में कार्मण वर्गणा ग्रहण करता है। मिथ्यात्व जहाँ आस्रव-बन्ध का द्वार खोलता है, वहीं उसे टिकाता भी है। मिथ्यात्व के द्वारा स्थिति व अनुभाग बन्ध भी होता है। "मूलाचार" गा. ९६८ की टीका में उल्लेख है—"भावनिमित्तौ भावहेतुको बन्धः संश्लेषः, स्थित्यनुभागरूपः। "स्थित्यनुभागौ कषायतः" इति वचनात्। 'अथ को भावः' इति प्रश्ने भावो राग-द्वेष-मोहयुक्तो मिथ्यात्वासंयमकषाय इत्यर्थः।" अर्थात् भाव के निमित्त से बन्ध होता है जो स्थिति, अनुभाग रूप है। "धवला" में भी कहा गया है कि मिथ्यादर्शन भावबन्ध स्वरूप है। 'भाव' कहने से मिथ्यात्व, असंयम और कषाय तीनों आते हैं। अनन्त संसार की स्थिति में मिथ्यात्व ही कारण है। राग-द्वेष रूप रस ग्रहण करना यह मिथ्यात्व का ही कार्य है।

नरकगति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की कही गई है। इसके जितने समय हैं, उतनी बार तो जघन्य स्थिति की आयु लेकर जन्म प्राप्त करे, बाद में एक-दो आदि समय अनुक्रम से वृद्धि करता हुआ तैंतीस सागर आयु पूरी करे। बीच-बीच में घट-बढ़ की आयु की गिनती नहीं है। इसी तरह तिर्यन्च गति की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त तथा अधिकतम तीन पल्य पूर्ण करे। मनुष्य की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूरी करे। इसी प्रकार देवगति की जघन्य दस हजार वर्ष से लगा कर ग्रैवेयक की उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय की आयु क्रम से पूर्ण करे। ग्रैवेयक के आगे उत्पन्न होने वाला एक-दो भव लेकर मोक्ष जाता है, इसलिए वह गिनती में नहीं है। इस तरह इस भवपरावर्तन का अनन्त काल है।

1. 'हि' ब प्रति।
2. 'भवट्ठिदी' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सव्वे पयडिट्ठिदिओ, अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमिदो पुण भावसंसारे॥२९॥

सर्वाः प्रकृतिस्थितियोऽनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि।
जीवो मिथ्यात्ववशाद् भ्रमितः पुनः भावसंसारे॥२९॥

अर्थ—*इस जीव ने सम्पूर्ण कर्म की प्रकृतियों की समस्त स्थितियों, अनुभागबन्ध-स्थानों तथा सभी प्रदेशबन्ध-स्थानों को प्राप्त किया है और मिथ्यात्व के वश में हो कर भाव-संसार में भ्रमण किया है।*

भावार्थ—भाव परावर्तन रूप संसार में इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत हो कर आठों कर्मों के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध तथा प्रदेशबन्ध के सभी स्थानों में बार-बार परिभ्रमण किया है।

कर्म की एक स्थितिबन्ध का कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उसमें एक स्थितिबन्ध-स्थान में अनुभाग बन्ध के कारण कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। जो योग्य स्थान हैं वे जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं। संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव स्व योग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण प्रकृति की स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागर प्रमाण बाँधता है। उसके कषायों के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। उसमें सब जघन्य स्थान एक रूप परिणमते हैं। उस एक स्थान में अनुभाग बन्ध के कारण स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें से एक सर्व जघन्य रूप परिणमता है। उसमें स्व योग्य जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग योगस्थान अनुक्रम से पूर्ण करता है। इसी तरह असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रम से पूर्ण करता है। इस पूर्वोक्त क्रम से कषायस्थान पूर्ण करता है। इस तरह दो समय अधिक जघन्य स्थिति से लगा कर तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त ज्ञानावरण कर्म की स्थिति पूर्ण होती है। इस प्रकार सभी मूल कर्म प्रकृति तथा उत्तर कर्म प्रकृतियों का क्रम जानना चाहिए। इस तरह परिणमन करते हुए अनन्त काल बीत जाता है। इन सब को एकत्र करने पर एक भाव-परिवर्तन होता है। इस तरह के अनन्त परावर्तन यह जीव भोगता आया है। इसमें सम्यक्त्व को छोड़ कर कोई ऐसा भाव शेष नहीं रहा जो जीव ने न किया हो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे॥३०॥

पुत्रकलत्रनिमित्तमर्थमर्जयति पापबुद्ध्या।
परिहरति दयादानं सो जीवो भ्रमति संसारे॥३०॥

अर्थ—जो पुत्र, पत्नी, आदि के लिए पाप बुद्धि से धन कमाता है और दया, दान से बचता रहता है, वह जीव संसार में भ्रमण करता है।

भावार्थ—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि धन पाप बुद्धि से कमाया जाता है। "यदि मैं कमाऊँगा नहीं, तो मेरी पत्नी-पुत्रादि का भरण-पोषण कैसे होगा"—इस बुद्धि से जैसे भी हो यह कमाई करता है। धन के अर्जन होने पर मेरा धन, मेरा धान्य, इत्यादि तीव्र तृष्णा के वशीभूत हो धर्म-बुद्धि को छोड़ देता है। इसलिए इसके करुणा के भाव नहीं होते और दान देने से बचता रहता है। जो दान नहीं देता, भगवान् की भक्ति नहीं करता, उसका घर श्मशान के समान कहा गया है। क्योंकि दान के देने से चतुर्विध संघ की स्थिरता होती है। इसलिए दान देने वाले ने मोक्ष-मार्ग चलाया, ऐसा कहना चाहिए। पर की करुणा से इन्द्रादि पद का सुख मिलता है और स्व-करुणा से मोक्ष का उत्तम अविनाशीक सुख मिलता है। जिसमें दया, दान की बुद्धि नहीं है, केवल पाप बुद्धि से धन कमाने में लगा रहता है, वह संसार में घूमता हुआ खोटी गति को प्राप्त करता है। पं. टीकमचन्दजी कहते हैं—"हमने तो ऐसा ठीक (निर्णय) किया कि जो धर्म एक दया भाव है। तातैं जिनको परम सुख की इच्छा होय सो धर्मात्मा सर्व जीवन तैं क्षमा भाव करि षट्काय जीवन को अभयदान देओ। बहुत कहने करि कहा? ऐसा अवसर फिर मिलना कठिन है।" कहा भी है—

दान चार परकार, चार संघ को दीजिये।
धन बिजुरी उनहार, नरभव लाहो लीजिये॥

तथा—

दाम बिना निर्धन दुःखी तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

—भूधरदास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

मम पुत्तं मम भज्जा, मम[1] धण[2]-धण्णोत्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि[3] दीहसंसारे॥३१॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकांक्षाया:।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे॥३१॥

अर्थ—मेरा पुत्र, मेरी भार्या (पत्नी), मेरा धन-धान्य, इस तरह की तीव्र अभिलाषा से धर्म-बुद्धि को छोड़ कर, फिर से यह जीव दीर्घ संसार में रुलता है।

भावार्थ—पर पदार्थों में अपनत्व (अहं) बुद्धि होना ही मिथ्या भाव है। मेरा-मेरा जहाँ है, वहीं अहं बुद्धि है। प्रत्यक्ष रूप से देखता हुआ भी कि धन-धान्य अचेतन पर पदार्थ हैं तथा पुत्रादि के संयोग में आने पर तथा बुद्धि में अपने स्वीकार करने पर ही अपने बने हैं, अतः उनमें ममत्व बुद्धि करता है। जब तक यह पर में अपनापन स्थापित नहीं करता है; तब तक यह मेरा है—ऐसी ममता नहीं होती। अहं, ममकार बुद्धि होना मिथ्यात्व है। इसके वश में होकर जीव अनादि काल से दीर्घ संसार में आत्म-स्वभाव (धर्मबुद्धि) से च्युत होकर अनन्त काल तक रुलता रहेगा। इस संसार में मिथ्यादृष्टि कष्ट पाता है। सम्यग्दृष्टि के तो नियम से आत्मज्ञान तथा वैराग्य होता है। इसलिए संसार के पर पदार्थों से उसकी ममत्व बुद्धि हट जाती है और निज स्वभाव में लग जाती है। वास्तव में जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाला एक मोह है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि के लिए पं. दौलतरामजी कहते हैं—

चहुँ गति दुक्ख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, या में सुख नाहिं लगारा॥

तथा—

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप, ये जिय के हितकारी।
ये ही सार असार और सब, यह चक्री चित्तधारी॥

1. ब प्रति में 'मम' नहीं है।
2. 'धण्ण' अ प्रति।
3. 'परिवडदि' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मिच्छोदयेण जीवो, णिंदंतो जोण्हभासियं धम्मं।
कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं[1], मण्णंतो भमदि संसारे॥३२॥

मिथ्यात्वोदयेन जीवो निन्दन् जैनभाषितं धर्मम्।
कुधर्मकुलिंगकुतीर्थान् मन्यमानो भ्रमति संसारे॥३२॥

अर्थ—मिथ्यात्व (विपरीत मान्यता) के उदय से यह जीव जिन (वीतराग भगवान्) के द्वारा उपदिष्ट धर्म की निन्दा करता है और खोटे धर्म, खोटे लिंग (भेष) और खोटे तीर्थों को मानता है, जिससे संसार में भ्रमण करता है।

भावार्थ—वस्तु-स्वरूप की पहचान न होने से जो जैसा है, उसे वैसा नहीं मानता अथवा जो जैसा नहीं है, उसे वैसा मानता है। जैनधर्म का उपदेश सम्यक् है, क्योंकि वह वस्तु का स्वरूप है। जो वस्तु जैसी है, जैनधर्म उसका उस रूप उपदेश करता है। किन्तु यह ऐसा तर्क करता है कि जैनधर्म ही क्यों अच्छा है? अन्य धर्मों का उपदेश भी अच्छा हो सकता है। वास्तव में प्रश्न अच्छे या बुरे का नहीं है। वस्तु-स्वरूप की सम्यक् दृष्टि कराने वाला जैनधर्म है, इसलिए सम्यक् है। वीतराग भगवान् ने यही बताया है कि आत्म-स्वभाव वीतराग तथा निर्विकल्प है। इसे प्राप्त किए बिना न कोई सद्गुरु हो सकता है, न धर्म हो सकता है और न देव या परमात्मा बन सकता है। जो धर्म के नाम पर कर्म करता है, धर्म के परिवेश के प्रदर्शन के लिए बाह्य भेष धारण करता है तथा तरह-तरह के चमत्कारों के नाम पर तीर्थ स्थापित करना है, उसे खोटा समझना चाहिए। खरे को छोड़ कर खोटे को मानने वाला ही दीर्घ संसार में घूमता रहता है। कहा भी है—

कोई खरा और कोई बुरा नहिं वस्तु विविध स्वभाव है।
तू वृथा विकलप ठान उर में करत राग उपाव है॥

—पं. बुधजन

1. ब प्रति में नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

हंतूण जीवरासिं, महुमंसं सेविऊण सुरपाणं।
परदव्वं परकलत्तं, गहिऊण य भमदि संसारे।। ३३ ।।

हत्वा जीवराशिं मधुमांसमासेव्य सुरापानम्।
परद्रव्यं परकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे।। ३३ ।।

अर्थ—जीव-राशि का घात कर, मधु, माँस और मदिरा का पान कर तथा पराये धन एवं परस्त्री को हरण कर यह जीव संसार में घूमता-फिरता है।

भावार्थ—जो हिंसा करता है, मद्य-मांस-मधु का सेवन करता है तथा धन एवं परस्त्री का अपहरण करता है, वह नियम से संसार में परिभ्रमण करता है। क्योंकि ऐसे खोटे कार्य, कोई खोटी मान्यता वाला ही कर सकता है। शुद्ध श्रद्धानी—सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। धर्मात्मा जीव दुर्भावना कैसे कर सकता है? वह तो अपने परिणामों की सम्हाल करता है। अतः हिंसादि पापों में लिप्त नहीं होता। जो राजविरुद्ध, लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध अन्याय रूप कषाय की प्रवृत्ति करता है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहा गया है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से वह नाना तरह के पाप करता है, जिनके कारण अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। इस अनन्तानुबन्धी का वासना काल संख्यात, असंख्यात, अनन्त भव पर्यन्त बना रहता है। इसलिए एक बार किसी जीव पर किया गया क्रोधादिक भाव अनन्त काल तक दुःखदाई है। इसी प्रकार झूठे मोह परिणाम की अन्तरंग कल्पना भावव्यसन है। द्रव्य और भाव दोनों ही रूपों में व्यसन दुःखों के घर हैं। पं. बनारसीदासजी के शब्दों में—

जूवा आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी।
एई सात विसन दुःखदाई, दुरित मूल दुरगति के भाई।।

अशुभ कर्म के उदय में हार और शुभ कर्म के उदय में जीत मानना भाव जुआ है। शरीर में लीन होना ही मांस-भक्षण है। मिथ्यात्व में मूर्च्छित हो कर आत्म-स्वरूप को भूलना मद्यपान है, कुमति के पथ पर चलना वेश्या-सेवन है, कठोर परिणाम से प्राणघात करना भाव-शिकार है, देहादि परवस्तु में आत्मबुद्धि रखना परस्त्री-संग है और अनुराग सहित परपदार्थों के ग्रहण की अभिलाषा भाव-चोरी है। ये हमें आत्मज्ञान से विमुख कर देते हैं। कहा है—

परद्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत-शोध।।

—पं. जयचन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

जदणेण[1] कुणइ पावं, विसयणिमित्तं हि अहणिसं[2] जीवो।
मोहंधयारसहिओ, तेण दु परिपडदि संसारे[3]॥३४॥

यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तं चाहर्निशं जीवः।
मोहान्धकारसहितः तेन तु परिपतति संसारे॥३४॥

अर्थ—मोह रूपी अन्धकार से सहित होने के कारण यह जीव विषयों के लिए प्रयत्न पूर्वक रात-दिन पाप करता है, जिससे संसार में रुलता है।

भावार्थ—संसारी जीव मोह के अन्धकार में अन्धा होकर रात-दिन उद्यम करके विषय-भोगों की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के पाप किया करता है। जैसे नृत्य के अखाड़े में नृत्यकार अनेक भेषों को धारण करता है और छोड़ता है, वैसे ही यह संसारी जीव इस चतुर्गति रूप संसार में सदा भिन्न-भिन्न रूपों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। यद्यपि देवगति में शारीरिक कष्ट नहीं होते, लेकिन मानसिक कष्ट विशेष होते हैं। देवांगना के वियोग के समय देव को बड़ा खेद होता है। अन्य देवों को मरते हुए देख कर उसे अपने मरण का भय सताता है और अपने मरण से पहले मुरझाई हुई माला को देखकर अत्यन्त व्याकुल होता है। अन्य देवों का अधिक वैभव देखकर ईर्ष्या उत्पन्न होती है। अपने से बड़े पद वालों की आज्ञा में चलने के कारण हीन भावना पैदा होती है। इस प्रकार के अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। सभी प्रकार के कष्ट पाप के फल में प्राप्त होते हैं। मोही जीव तरह-तरह के पाप इसलिए करता है कि वह विषय-सुख निरन्तर चाहता है। जब तक विषयों की चाहना है, तब तक उसे पूरा करने के लिए वह पाप के प्रयत्न करता ही रहेगा, जिनसे संसार में रुलता ही रहेगा। कहा भी है—

लोक स्वरूप विचारि कै, आतम रूप निहार।
परमारथ व्यवहार मुनि, मिथ्या भाव निवार॥

—पं. जयचन्द

---

1. "जं तेण" अ प्रति।
2. 'अहण्णिसं' अ प्रति।
3. 'दीह संसारे' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

संजोगविप्पजोगं, लाहालाहं सुहं य[1] दुक्खं य[2]।
संसारे भूदाणं, होदि हु माणं तहावमाणं य[3]॥३५॥

संयोगविप्रयोगौ, लाभालाभौ सुखं च दुःखं च।
संसारे भूतानां, भवति हि मानं तथापमानं च॥३५॥

अर्थ—संसार में प्राणियों को संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान तथा अपमान (प्राप्त) होते हैं।

भावार्थ—संसार में एक साधारण प्राणी से लेकर बड़े-बड़े चक्रवर्ती, महापुरुषों के जीवन में भी प्रिय वस्तु तथा प्रियजनों से मिलने-बिछुड़ने की अनेक घटनाएं देखी जाती हैं। कर्म के उदय में राजपुरुष को चक्ररत्न की प्राप्त हो जाती है, लेकिन एक समय ऐसा आता है कि जब सब से वह बिछुड़ जाता है। इसलिये जीवन में संयोग-वियोग प्रत्येक समय होता रहता है। इसी प्रकार कुछ आता रहता है, कुछ जाता रहता है। आने में यह लाभ मानता है और जाने में हानि समझता है। लेकिन जाने-अनजाने हर समय किसी से जुड़ना, अलग होना, किसी के आने, मिलने, किसी के बिछुड़ने का क्रम चलता ही रहता है। जैसे-जैसे कर्म का उदय होता है, वैसे-वैसे दृश्य, घटना घटित होती है, भोग-सामग्री प्राप्त होती है। विचित्रता तो कभी-कभी यह देखी जाती है कि एक तरफ सम्मान का आयोजन हो रहा है, तो दूसरी ओर अपमानजनक शब्द कहे जा रहे हैं, गालियाँ दी जा रही हैं। विवाह में गालियाँ सम्मान के लिए दी जाती हैं, लेकिन निंदा-प्रस्ताव में, तिरस्कार-अपमान में निरादर की सूचक होती हैं। अतः यह सब कर्म के उदय का खेल है। कविवर भूधरदासजी कहते हैं—

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तें, भरमत हैं बिन ज्ञान।

इस जीव को यह पता नहीं है कि सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग की जो अवस्थाएँ हो रही हैं वह सब कर्म के उदय से है।

---

1. 'च' अ, ब प्रति।
2. 'च' अ, ब प्रति।
3. 'संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

कम्मणिमित्तं जीवो, हिंडदि संसारघोरकंतारे[1]।
जीवस्स ण संसारो, णिच्छयणयेण[2] कम्मणिम्मुक्को॥३६॥

कर्मनिमित्तं जीवो, हिण्डति संसारघोरकान्तारे।
जीवस्य न संसारो, निश्चयनयेन कर्मनिर्मुक्तः॥३६॥

अर्थ—*यह जीव कर्मों के निमित्त से संसार रूप भयानक वन में भ्रमण करता रहता है। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि में जीव कर्मों से मुक्त है, इसलिये संसार नहीं है।*

भावार्थ—संसार के भीषण वन में जीव के भटकने में कर्म निमित्त कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः यह जीव कर्मों से बंधा हुआ नहीं है; मुक्त ही है। अतः संसार होने का प्रश्न नहीं है। यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाए, तो जीव शुद्ध चिदानन्द स्वभावी है। यह कहीं भी किसी भी गति तथा पर्याय में रहे, लेकिन हर हालत में चिदानन्द चैतन्य ही रहता है। इसके स्वभाव को न तो कोई बदल सकता है और न बना सकता है। इसके स्वभाव में कर्म का प्रवेश नहीं होता, इसलिए यह जीव कर्म से मुक्त है। आचार्य कुन्दकुन्द "समयसार" में कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो, णाणदंसणमइयो सदारूपी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि परमाणु मेत्तं पि॥३८॥

तथा

विवहार दृष्टि सौं विलोकत बंध्यो सो दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यो यह किनि ही।
एक पच्छ बंध्यो एक पच्छ सौं अबंध सदा,
दोउ पच्छ अपने अनादि धरे इनि ही॥
कोऊ कहै समल विमल रूप कोऊ कहै,
चिदानन्द तैसोई बखान्यो जैसो जिनि ही।
बंध्यो माने खुल्यो माने दोऊन कौ भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायो तिनि ही॥

—समयसार नाटक, २६

1. 'कांतारे ब प्रति।
2. 'णिच्चयणय' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

संसारमदिक्कंतो, जीवोवादेयमिदि विचिंतेज्जो[1]।
संसारदुहक्कंतो, जीवो सो हेयमिदि विचिंतेज्जो[2]॥३७॥

संसारमतिक्रान्तो, जीव उपादेय इति विचिन्तनीयम्।
संसारदुःखाक्रान्तो, जीवः स हेय इति विचिन्तनीयम्॥३७॥

अर्थ—संसार से अतिक्रान्त (निर्मुक्त) जीव उपादेय है, ऐसा विचार करना चाहिए। संसार के दुःखों से आक्रान्त (व्याप्त) जीव हेय है, छोड़ने योग्य है—यह चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—शुद्धात्मा या परमात्म-स्वरूप समयसार ही ध्येय है। एक शुद्ध चिदानन्द रूप भाव ही उपादेय है। वहाँ न राग है, न द्वेष है तथा विभाव-परिणमन भी नहीं है। इसी भाव से संवर और निर्जरा होती है। वास्तव में शुद्धात्म-तत्त्व की प्राप्ति शुद्ध भाव से ही होती है। दान-पूजा करने का ाम, निज तथा पर का कल्याण करने का भाव, दया रूप परिणाम, आदि भाव हैं। दूसरे को सताने या दुखी करने का भाव, हिंसा रूप आर्त-रौद्र परिणाम तथा संक्लेश रूप सभी तरह के परिणाम अशुभ हैं। ये दोनों तरह के भाव अशुद्ध भाव हैं। इसलिए शुद्ध भाव की अपेक्षा हेय हैं, बन्ध के कारण हैं। शुभ भाव अशुभ भाव की अपेक्षा उपादेय हैं, किन्तु आत्मकल्याण (सुख) की अपेक्षा से बन्ध (दुःख) के कारण होने से हेय व त्याज्य हैं। केवल एक शुद्ध चिदानन्द ायक भाव ही उपादेय है। ज्ञायक भाव के चिन्तन, मनन, आश्रय से ही त्म-स्वभाव की शुद्धि प्रकट होती है। आत्मा को शुद्ध करने के लिए इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। मन को और शरीर को पवित्र करने के अनेक उपाय हैं, लेकिन आत्मा को शुद्ध करने का एकमात्र उपाय शुद्धोपयोग है। कविवर मंगतरायजी कहते हैं—

मोह कर्म को नाश मेट कर, सब जग की आसा।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो वासा॥
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध, भावन संवर पावे।
डाट लगत यह नाव पड़ी, मँझधार पार जावे॥

---

1. 'विचिंतिज्जो' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'विचिंतिज्जो' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

६

[लोकानुप्रेक्षा]

(गाहा)

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चए[1] लोगो।
तिविहो हवेई लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण[2] ॥३८॥

जीवादिपदार्थानां समवायः स निरुच्यते लोकः।
त्रिविधो भवेल्लोकोऽधोमध्यमोर्ध्वभेदेन॥३८॥

अर्थ—जीव आदि पदार्थों के समवाय को लोक कहते हैं। लोक तीन प्रकार का है—अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक।

भावार्थ—छह जाति (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) के द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य नित्य है, इसलिए लोक भी नित्य है। प्रत्येक समय में द्रव्य में होने वाला परिणमन उसका स्वभाव है। अपने स्वभाव से ही द्रव्य उत्पन्न होता है। इसलिए उसका कोई कर्ता या विनाशक नहीं है। लोक अनादि-अनिधन व अकृत्रिम है। पूर्व-पश्चिम दिशा में लोक नीचे के भाग में सात राजू चौड़ा है। वहाँ से अनुक्रम से घटता हुआ मध्य लोक में एक राजू चौड़ा है। दक्षिण-उत्तर में सभी जगह सात राजू चौड़ा है। ऊँचा चौदह राजू प्रमाण है। इस प्रकार लोक का घनफल करने पर ३४३ राजू होता है।

लोक के तीन विभाग किये गये हैं— अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। लोक का आकार खड़े किये गये डेढ़ मृदंग के समान कहा गया है। मेरु के नीचे सात राजू अधोलोक कहा है। ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। बीच में मेरु के समान एक लाख योजन प्रमाण मध्यलोक है।

जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश कहा गया है। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश द्रव्य अनन्त है, अमूर्तिक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों द्रव्य आकाश में जहाँ तक पाये जाते हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं। जहाँ आकाश मात्र पाया जाता है उसे अलोकाकाश कहा जाता है। पं. दौलतरामजी कहते हैं—

किनहू न करयो न धरे कौं, षट्द्रव्यमयी न हरे को।
सो लोक मँाहि बिन समता, दुख सहे जीव नित भ्रमता॥

---

1. 'णिरुच्चदे' अ प्रति।
2. 'भयेण' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिरया हवंति हेट्ठा[1], मज्झे दीवंबुरासयो संखा।
सग्गो तिसट्ठिभेओ[2], एत्तो उड्ढं हवे[3] मोक्खो॥३९॥

निरया भवन्ति अधस्तने मध्ये द्वीपाम्बुराशयोऽसंख्याः।
स्वर्गः त्रिषष्टिः भेदः एतस्मादूर्ध्वं भवेन्मोक्षः॥३९॥

अर्थ—नीचे अधोलोक में नारकी रहते हैं। मध्य लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। ऊपर ऊर्ध्वलोक में स्वर्गों के त्रेसठ पटल हैं और उन सबसे ऊपर मोक्ष स्थान है।

भावार्थ—इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक या पाताललोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक। अधोलोक में नरक हैं। नरक की सात भूमियाँ हैं। उनके नाम हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा। इनको ही सात नरक कहते हैं। इनमें नारकी रहते हैं। मनुष्यों से नारकी असंख्यात गुने हैं। सातवें नरक से लेकर ऊपर पहले नरक तक जीव असंख्यात-असंख्यात गुने हैं। पहले नरक से लेकर नीचे-नीचे बहुत दुःख हैं। नरक का क्षेत्र तथा नारकियों के परिणाम दुःखमयी होते हैं। पूर्व जन्म के बैर के कारण नारकी जीव परस्पर तीव्र क्रोध करते हुए एक-दूसरे का छेदन-भेदन-मारन-ताडन-कुम्भीपाक आदि करते है। वहाँ का दुःख उपमा रहित है। नरक गति में क्रोध-मान से परस्पर दुःख देने का कार्य निरन्तर पाया जाता है। यदि परस्पर मित्रता करें, तो दुःख मिट जाये। यद्यपि अन्य को दुःख देने से उनका कुछ भी कार्य नहीं होता; परन्तु क्रोध-मान की अति तीव्रता पाई जाती है, जिससे परस्पर दुःख देने की ही बुद्धि रहती है। विक्रिया द्वारा अन्य को दुःखदायक शरीर के अंग बनाते हैं तथा शस्त्रादि बनाते हैं। उनके द्वारा दूसरों को स्वयं पीड़ा देते हैं और स्वयं को कोई और पीड़ा देता है। कभी कषाय उपशान्त नहीं होती। तथा उनमें माया-लोभ की भी अति तीव्रता होती है; परन्तु कोई इष्ट सामग्री वहाँ दिखाई नहीं देती। इसलिए उन कषायों का कार्य प्रकट नहीं कर सकते, जिससे अन्तरंग में महा दुःखी हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार)

---

1. 'हिट्ठा' अ प्रति।
2. 'भेया' अ प्रति। 'भेयो' ब प्रति।
3. 'हवेइ' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

इगतीस-सत्त-चत्तारि-दोण्णि-एक्केक्क-छक्क-चदुकप्पे[1] ।
तित्तिय-एक्केक्केंदय णामा उडुआदि—तेसट्ठी[2] ।।४०।।

एकत्रिंशत्-सप्तचत्वारि द्वावेकैकं षट्कं चतुःकल्पे।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादि-त्रिषष्टिः ।।४०।।

अर्थ—सौधर्म-ईशान कल्प में विमानों के इकतीस पटल हैं, सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में सात पटल हैं, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प में चार पटल हैं, लान्तव-कापिष्ठ कल्प में दो पटल हैं, शुक्र-महाशुक्र कल्प में एक पटल है, शतार-सहस्रार कल्प में एक पटल है तथा अन्त के आनत-प्राणत, आरण-अच्युत कल्पों में छह पटल हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों में बावन पटल हैं। स्वर्गों के ऊपर प्रत्येक ग्रैवेयक में एक-एक पटल है। अतःनौ ग्रैवेयकों में नौ पटल हैं। उनके ऊपर अनुदिशों का एक पटल है और अनुदिशों के ऊपर पाँच अनुत्तरों का एक पटल है। इस प्रकार सब मिलाकर ऋतु आदि त्रेसठ पटल हैं।

भावार्थ—स्वर्ग में सभी पुरुष कामदेव के समान होते हैं तथा स्त्रियाँ इन्द्राणी के समान होती हैं। उनके शरीर की गन्ध से सभी दिशाएँ सुगन्धित रहती हैं। देह का प्रकाश भी चारों ओर फैल जाता है। स्थान-स्थान पर रत्न, माणिक्य, पन्ना, हीरा, कामधेनु, चित्रावेलि, कल्पवृक्ष, पारस, आदि अपूर्व निधि का समूह देखा जाता है। वहाँ पर अनेक तरह के मांगलिक वाद्य बजते रहते हैं। कोई नृत्य करता है, कोई गान करता है, ताल-मृदंग बजाते हैं, कई तरह के कुतूहल करते हैं। वहाँ पर सदा उत्सव होते रहते हैं। कई तरह के आश्चर्य वहाँ दिखलाई पड़ते हैं। वहाँ के निवासियों का शरीर, सौन्दर्य, रंग-रूप आयु पर्यन्त एक-सा बना रहता है। वे कभी वृद्ध नहीं होते। उन के नेत्र नहीं झँपते हैं, शरीर की छाया नहीं पड़ती। उन को भूख-प्यास नहीं सताती। हजारों वर्षों में कुछ भूख-प्यास लगती है जो मानसिक रूप से तृप्त हो जाती है। स्वर्गों के ठाठ देखते ही बनते हैं।

---

1. 'चउकप्पे' अ प्रति।
2. 'उड्डवादितेसट्ठी' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिच्चिदर-धादु[1] सत्त य, तरु—दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरियचउरो, चोद्दस मणुए सद[2]सहस्सा ।।४१ ।।

नित्येतरधातुषु सप्त च तरौ दश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयतिर्यक्षु चतस्रः चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः ।।४१ ।।

अर्थ—*नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय इन प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ हैं। प्रत्येक वनस्पति की दस लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियों की छह लाख योनियाँ कही गई हैं। देव, नारकी तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की योनियाँ चार-चार लाख हैं। मनुष्यों की १४ लाख योनियाँ कही जाती हैं। (सब मिलाकर ८४ लाख योनियाँ हैं जिनमें संसारी जीव परिभ्रमण करता है।)*

भावार्थ—यह लोक पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन पाँच प्रकार के शरीर धारक एक इन्द्रिय जीवों से सब जगह भरा हुआ है। त्रस जीव त्रसनाड़ी में ही हैं; बाहर नहीं हैं। आधार सहित जीव स्थूल तथा आधार रहित सूक्ष्म जीव कहे गये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के होते हैं। वनस्पति साधारण और प्रत्येक के भेद से दो प्रकार की कही गई है। अनन्तानन्त प्रमाण जीवों के आहार, उच्छ्वास, शरीर, आयु समान होने से साधारण जीव हैं। एक जीव आहार करता है, तो अनन्तानन्त जीवों का आहार हो जाता है; एक जीव उच्छ्वास लेता है, तो अनन्तानन्त जीवों का उच्छ्वास होता है। इसी तरह एक जीव का शरीर तथा आयु अनन्तानन्त जीवों का शरीर एवं आयु होती है। जिस वनस्पति के आश्रित निगोद पाई जाती है, वह साधारण है जिसे सप्रतिष्ठित भी कहते हैं। और जिसके आश्रित निगोद नहीं पाई जाती है, वह प्रत्येक है जिसे अप्रतिष्ठित भी कहते हैं। इस निगोद राशि में भी संसारी जीव ने बहुत परिभ्रमण किया है। कहा भी है—

काल अनन्त भ्रम्यो जग में सहिये दुःख भारी।

1. 'धाउ' अ प्रति।
2. 'सय' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

असुहेण णिरय-तिरियं, सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोगं[1] विचिंतेज्जो[2] ॥४२॥

अशुभेन निरयतिर्यन्चौ शुभोपयोगेन दिविजनरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिमेवं लोको विचिन्तनीयः॥४२॥

अर्थ—*अशुभ उपयोग से नरक तथा तिर्यन्चगति प्राप्त होती है, शुभ उपयोग से देवगति तथा मनुष्यगति का सुख मिलता है एवं शुद्ध उपयोग से मुक्ति की प्राप्ति होती है—इस तरह लोक का विचार करना चाहिए।*

भावार्थ—नरकगति और तिर्यन्चगति अशुभ हैं, मनुष्यगति और देवगति शुभ हैं। जीव अशुभ भाव से अशुभगति तथा शुभ भावों से शुभगति को प्राप्त होता है। भाव तीन प्रकार के होते हैं—अशुभ, शुभ, शुद्ध। मिथ्यात्व, तीव्र कषाय और संसार भोगों में लिप्तता के निमित्त से अशुभ भाव होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप परिणाम, सप्त व्यसन का सेवन, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप तीव्र परिणाम सभी अशुभ परिणाम हैं। इन के करने से नरक और तिर्यन्चगति प्राप्त होती है। शुद्धोपयोग से पंचम गति मिलती है।

देवपूजा, गुरु-भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, दान-दया के परिणाम, धर्म प्रभावना के भाव, धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा के भाव, संसार के दीन-दुखी जीवों के कल्याण करने के भाव, इत्यादि सभी शुभ भाव हैं। शुभ भाव पुण्य बन्ध के कारण हैं। शुभ भावों से देवगति तथा मनुष्यगति के सुख मिलते हैं।

इस प्रकार अशुभ उपयोग तथा शुभ उपयोग संसार-बन्ध के कारण हैं। इसलिए आत्मकल्याण की अपेक्षा से अशुद्ध भाव हेय किंवा त्याज्य हैं; एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुद्धोपयोग से संवर और निर्जरा होती है। शुद्धोपयोग के बिना न तो शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और न निर्वाण की प्राप्ति होती है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह॥

—भावपाहुड, गा. ७७

निज शुद्धात्मा का अपने में लीन रहना शुद्ध भाव है। उसी का सेवन कर।

1. 'लोय' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'विचिंतिज्जो' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

७

(अशुचित्वानुप्रेक्षा)

(गाहा)

अट्ठीहिं पडिबद्धं, मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमसंकुलेहिं भरिय[1]मचोक्खं देहं सयाकालं॥४३॥

अस्थिभिः प्रतिबद्धो मांसविलिप्तः त्वचा ह्यवच्छन्नः।
कृमिसंकुलै र्भरितोऽप्रशस्तो देहः सदाकालम्॥४३॥

अर्थ—*यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है, मांस से लिपटा हुआ है, चमड़े से ढका हुआ है, कीड़ों से भरा हुआ है, इसलिये सदा मैला रहता है।*

भावार्थ—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है। माता के रुधिर तथा पिता के वीर्य के संयोग से इसकी उत्पत्ति होती है। मल के बरतन के समान यह अपवित्र पात्र है। ऊपर से यह चाम से ढका हुआ है। नित्य ही इसके नव मल द्वारों से अपवित्र मल बहा करता है। सप्त धातुमय यह शरीर रुधिर, मांस, हाड़, चाम, वीर्य मज्जा, नसों का विस्तीर्ण जाल है। मल-मूत्र तथा अनेक प्रकार के कीड़ों से भरा हुआ अत्यन्त अशुचि है। यह शरीर रूपी महल हड्डियों से निर्मित है, नसों से बँधा हुआ है, मल-मूत्रादि से भरा हुआ है, कीड़ों से व्याप्त है, माँस से लिपटा हुआ है, चमड़े से ढका हुआ है, अतः सदा अपवित्र है। यदि इसे समुद्र तथा तीर्थों के जल से भी धोया जाये, तो यह शुद्ध नहीं हो सकता। जितने भी पदार्थ सुगन्धित तथा पवित्र माने जाते हैं, वे सब इस शरीर के सम्पर्क में आते ही अपवित्र हो जाते हैं। जिस प्रकार कोयले को ज्यों-ज्यों धोया जाता है, उसकी कालिमा त्यों-त्यों प्रकट होती जाती है; उसी प्रकार शरीर को चाहे जितना उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न किया जाये, यह अपनी अपवित्रता ही प्रकाशित करता है। कहा भी है—

तू नित पोखे यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली।
निश दिन करे उपाय देह का, रोग दशा फैली॥
मात-पिता रज-वीरज मिलकर, बनी देह तेरी।
मांस-हाड़-नस-लहू-राध की, प्रगट व्याधि घेरी॥

—कविवर मंगतराय

---

1. 'भरिद' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

दुग्गंधं बीभच्छं[1], कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं, देहं इदि चिंतये णिच्चं।।४४।।

दुर्गन्ध बीभत्सं, कलिमलभृतमचेतनं मूर्तम्।
स्खलनपतनस्वभावं, देहम् इति चिन्तयेन्नित्यम्।।४४।।

अर्थ—*यह शरीर दुर्गन्धि, घिनौना, गन्दे मल से भरा हुआ अचेतन, मूर्तिक है तथा सड़न-गलन स्वभाव वाला है—यह नित्य चिन्तन करना चाहिए।*

भावार्थ—शरीर स्वभाव से ही मलिन है। यह देह दुर्गन्धिमय, मल-मूत्र से भरी हुई है। इसका स्वभाव सड़ना, गलना, पड़ना, मिलना, बिछुड़ना है। किन्तु संसारी जीव अज्ञानता से इस शरीर को अपना मान रहा है। शरीर के जन्म में यह अपना जन्म मानता है, शरीर के नाश में अपना मरण मानता है। इसके रोगी होने पर अपने को रोगी, दुबले होने पर अपने को दुबला मानता है। शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में यह अपनापन मानता है। लेकिन शरीर तो संयोगी पर पदार्थ है। इसमें आत्मा का क्या है? आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप त्रैकालिक ध्रुव है। यह शरीर सड़ने, गलने वाला अनित्य है। इसका वास्तविक ज्ञान न होने से यह शरीर पर मोहित हो गया है। अतः पं. दौलतरामजी समझाते हुए सावधान करते हैं—

पल, रुधिर, राध, मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी।।

इस शरीर में गर्भ से लगा कर मरण पर्यन्त वृथा क्लेश, अपवित्रता, भय, पराभव, पाप, आदि पाये जाते हैं। इनमें से किसी एक के होने पर भी विवेकी जन शरीर से ममत्व बुद्धि छोड़ देते हैं, फिर इतने एक साथ बहुत समय तक विभिन्न अशुचि दोष पाये जाते हैं, तो देह से नेह क्यों नहीं छोड़ने योग्य है? कहा भी है—

केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित, वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन, निशदिन मल जारी।।

—मंगतराय

---

1. 'बीभत्थं' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा-गीति)

रस-रुहिर-मंस-मेदट्ठी-मज्जसंकुलं मुत्त-पूय-किमिबहुलं
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं॥४५॥

रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयकृमिबहुलम्।
दुर्गन्धिमशुचिः चर्ममयमनित्यमचेतनं पतनम्॥४५॥

अर्थ–यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, आदि सात धातुओं से व्याप्त है। मूत्र, पीव, कृमियों से भरा हुआ यह दुर्गन्धित, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है तथा नाशवान है।

भावार्थ–शरीर मिट्टी की खान है। देह जड़ है, मल-मूत्र रूपी खेत की क्यारी है तथा रोगों की गठरी है। यह हड्डियों से भरी हुई है, नस के जाल से व्याप्त है एवं पुरानी चादर के समान है।

पं. बनारसीदास के शब्दों में–

ठौर-ठौर रकत के कुंड केसनि के झुंड,
हाड़नि सौं भरी जैसे थरी है चुरैल की।
नैकु से धका के लगे ऐसे फटि जाय मानो,
कागद की पूरी किधौं चादरि है चैल की॥
सूचै भ्रम वानि ठानि मूढ़नि सौं पहचानि,
करै सुख हानि अरु खानि बद फैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी संगति सौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हू के से बैल की॥

–समयसार नाटक, बंधद्वार, ४१

यह अस्थिर स्वभाव वाला है। लेकिन मूर्ख लोग फिर भी इससे स्नेह करते हैं। यद्यपि शरीर चेतन आत्मा से निराला, भिन्न स्वभाव वाला है, किन्तु मूढ़ जनों का इसमें अनुराग घनिष्ठ है। यह जानते हुए भी कि एक दिन यह हमारा साथ छोड़ देगा, फिर भी यह अत्यन्त प्रिय है। अतः इसके स्वरूप को पहचान कर ज्ञानी जनों को इससे आसक्ति हटा लेनी चाहिए। क्योंकि स्वभाव से ही यह दुःख तथा दोषमय है एवं मोक्षसुख में बाधक है। क्योंकि शरीर से रागभाव रख कर कोई सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

देहादो वदिरित्तो, कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलओ[1]।
चोक्खो हवेइ अप्पा, इदि णिच्चं भावणा[2]कुज्जा ॥४६ ॥

देहाद् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितोऽनन्तसुखनिलयम्।
प्रशस्तो भवेदात्मा इति नित्यं भावनां कुर्यात् ॥४६ ॥

अर्थ— *देह से भिन्न, कर्मों से रहित, अनन्त सुख का सदन आत्मा ही प्रशस्त है—ऐसी भावना प्रतिदिन भानी चाहिए।*

भावार्थ— आत्मा अलख, अमूर्तिक, अरूपी, नित्य, अजन्मा, निराधार, ज्ञानी, निर्विकार और अखण्ड है। अनेक शरीर धारण करने पर भी यह कभी उन रूप नहीं होता। आत्मा किसी भी स्थिति में अंश मात्र शरीर रूप कभी नहीं होता। चेतन के प्रदेशों को धारण किए हुए यह चैतन्य का पिण्ड ही है। वास्तव में यह न शरीर रूप है और न अन्य वस्तु रूप है। परमार्थ से यह वीतराग, निर्विकल्प, ज्ञानानन्द स्वभावी, निर्बन्ध, कर्मों से मुक्त है। हे मन! ऐसा चिदानन्द शुद्धात्मा ही ध्येय है, इसका चिन्तन कर। कहा है—

प्रथम सुदृष्टि सौं सरीर रूप कीजै भिन्न,
तामैं और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये।
अष्टकर्म भाव की उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहू मैं सुबुद्धि कौ विलास भिन्न जानिये॥
तामैं प्रभु चेतन विराजत अखंड रूप,
वहै श्रुतज्ञान के प्रमान उर आनिये।
वाही कौ विचार करि वाही मैं मगन हूजै,
वाकौ पद साधिबे कौं ऐसी विधि ठानिये॥

—समयसार नाटक, बंधद्वार, ५५

क्योंकि—

राम-रसिक अर राम-रस, कहन सुनन कौं दोय।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहिं कोय॥

—वहीं, मोक्षद्वार, ३३ ॥

---

1. 'णिलयो' अ प्रति।
2. 'भावण' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

८
(आस्रवानुप्रेक्षा)
(गाहा)

मिच्छत्तं अविरमणं, कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण-पण-चउ-तियभेदा[1], सम्मं परिकित्तिदा समए[2] ॥४७॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति।
पंचपंचचतुस्त्रिकभेदाः सम्यक् प्रकीर्तिताः समये॥४७॥

अर्थ—आगम में पाँच प्रकार के मिथ्यात्व, पाँच अविरति, चार कषाय तथा तीन प्रकार के योग भलीभाँति आस्रव के कारण कहे गये हैं। विस्तार से इनका वर्णन आगम में किया गया है।

भावार्थ—जिन-शासन में आत्मा के मिथ्यात्वादि रूप परिणामों का नाम आस्रव है। अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है। उसके साथ अनुबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धी का उदय मिथ्यात्व की दशा में होता है। एकान्त, विपरीत, संशय, विनय और अज्ञान के भेद से मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। "यह ऐसा ही है" ऐसी आग्रह बुद्धि से धर्म के विषय में एकान्त अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यात्व है। निश्चयाभास और व्यवहाराभास दोनों ही एकान्त मिथ्यात्व हैं। जैसे—यह सब ब्रह्म रूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि। किन्तु सापेक्ष मानने में एकान्त नहीं है। "सपरिग्रह भी निर्ग्रन्थ हो सकता है, केवली केवलाहारी, स्त्री मुक्ति हो सकती है" आदि विपरीत अभिप्राय विपरीत मिथ्यात्व है। "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष-मार्ग हो सकता है या नहीं"—इस प्रकार दोलायमान चित्त वृत्ति होना संशय मिथ्यात्व है। सभी देवों में, सब शास्त्रों में तथा गुरुओं मे बिना विवेक के समान भाव रखना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहित की परीक्षा में असमर्थ होना अज्ञान मिथ्यात्व है। ये सभी आस्रव के कारण कहे गये हैं। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, मन, वचन, काय भी आस्रव के कारण कहे गये हैं। मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँचों बन्ध के कारण हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग् मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार, संयतासंयत के भी अविरति आदि चार, प्रमत्तसंयत के तीन, अप्रमत्त आदि सूक्ष्मसाम्परायान्त चार गुणस्थानों में कषाय और योग, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के केवल योग ही बन्ध का कारण है। "समयसार" (गा. १६४-१६५) में भी आस्रव-अधिकार में प्रारम्भ में ही दो गाथाओं में सम्बन्धित वर्णन किया गया है।

1. 'भेया' अ, ब प्रति।
2. 'समये' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

एयंत-विणय-विवरिय[1]-संसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी, पंचविहो हवेइ[2] णियमेण॥४८॥

एकान्तविनयविपरीतसंशयमज्ञानमिति भवेत् पंच।
अविरमणं हिंसादि पंचविधो भवेन्नियमेन॥४८॥

अर्थ—*एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान-मिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के भेद से अविरति पाँच तरह की नियम से होती है।*

भावार्थ—जिनागम में दुःख का कारण कर्म-बन्धन तथा उसका कारण मिथ्यात्वादिक आस्रव कहा गया है। मिथ्यात्वादिक भाव हैं सो दुःखमय हैं। मोह का भाव होने पर जीव उसे अपना स्वभाव मानता है, उसमें कर्ता बुद्धि करता है, दर्शन-ज्ञान उपयोग और आस्रव भाव को एक मानता है तथा आस्रव रूप अपने को अनुभव करता है—ये सभी भाव आकुलता सहित होते हैं, इसलिए दुःखमय हैं।

मोक्ष या सच्चे सुख के कारण छह तत्त्व हैं—देव, गुरु, धर्म, आप्त, आगम, पदार्थ। इनको अन्यथा ग्रहण करना सो गृहीत मिथ्यात्व है। गृहीत मिथ्यात्व के मूल भेद एकान्त, विनय, संशय, विपरीत, अज्ञान—ये पाँच प्रकार हैं, उत्तर भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं। मिथ्यात्व भाव जीव के लिए सर्वथा अकल्याणकर है। इसके मन्द उदय में ही इसे छोड़ना सम्भव है।

हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं। प्रमाद के योग से किसी प्राणी के प्राण का घात करना, पीड़ा पहुँचाना सो हिंसा है। हिंसा दो प्रकार की है-द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। द्रव्य हिंसा भी दो प्रकार की है—निज द्रव्य प्राणों का आत्मघात, कषाय रूप आदि अपघात करना तथा अन्य जीव के द्रव्य प्राणों का घात करना, मारना, बाँधना, छेदना, आदि परद्रव्य हिंसा है। तीव्र संक्लेश रूप कषाय भाव करना सो स्वभाव हिंसा है। अन्य प्राणी को कषाय सहित करना, दुःखी करना सो परभाव हिंसा है। यों हिंसा के चार भेद हैं—उद्यमी, संकल्पी, आरम्भी, विरोधी। सभी तरह की हिंसा के मूल में राग तथा प्रमाद है। पापों के मूल में भी राग-द्वेष भाव है। जहाँ राग है, वहाँ नियम से हिंसा है।

1. 'विवरीय' अ प्रति।
2. 'दोसा हवंति' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कोहो माणो माया, लोहो वि य[1] चउविहकसायं खु।
मणवचकायेण पुणो, जोगो तिवियप्पमिदि जाणे।।४९।।

क्रोधो मानो माया लोभोऽपि चतुर्विधश्च कषायो हु।
मनोवचस्कायैः पुनर्योगस्त्रिविकल्पमिति जानीहि।।४९।।

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार प्रकार की कषाय है। मन, वचन और काययोग के भेद से योग के तीन भेद समझना चाहिए।

भावार्थ—आकुलता रूप दु:ख है। दु:ख का कारण जीव का पर द्रव्यों में राग-द्वेष भाव है जिसे कषाय कहते हैं। कषाय के मूल भेद दो हैं—राग, द्वेष। पर द्रव्य से रंजित भाव को राग कहते हैं तथा अरंजित भाव को द्वेष कहते हैं। द्वेष कषाय के दो भेद हैं—क्रोध, मान। राग कषाय के दो भेद हैं—माया लोभ। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों प्रकार के कषाय भावों की तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, ऐसी चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है। इसके एक-एक प्रकार में उदय स्यामक असंख्यात लोकप्रमाण हैं। गुण या स्वभाव की अपेक्षा चारों कषाय के चार-चार प्रकार हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नंपुसकवेद, ये सब मिलाकर एक-एक कषाय के तेरह भेद होते हैं। इन को क्रोध, मान, माया लोभ से गुणित करने पर बावन भेद हो जाते हैं।

इस जीव की समस्त प्रवृत्ति मन, वचन, काय के योग से कही जाती है। जब इसके कषाय का उदय होता है, तब इससे कषाय किये बिना रहा नहीं जाता। बाहर में कषाय के कारण मिलते हैं, तो उनके आश्रय से कषाय करता है, नहीं तो अपने उपयोग में कषायों के कारणभूत पदार्थों का चिन्तवन करके स्वयं ही कषाय रूप परिणमित होता है। इस प्रकार यह जीव कषाय भावों से पीड़ित हुआ महान दुखी होता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार) इस जीव के मिथ्यात्व भाव से इष्ट, अनिष्ट बुद्धि होती है और कषाय से क्रोध, मान आदि के परिणाम होते हैं। वास्तव में मिथ्यात्व और कषाय दोनों भिन्न—भिन्न हैं।

---

1. 'विय' के स्थान पर 'इदि' है—अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

असुहेदरभेदेण[1] दु, एक्केक्कं वण्णिदं हवे[2]दुविहं।
आहारादीसण्णा, असुहमणं इदि विजाणेहि[3] ॥५०॥

अशुभेतरभेदाभ्यां त्वेकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम्।
आहारादिसंज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि ॥५०॥

अर्थ—*प्रत्येक योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। आहार, भय, विषय-वासना की चाह अशुभ मन समझना चाहिए।*

भावार्थ—मन, वचन और काय के योग से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होने को योग कहते हैं। मन, वचन, काय इन तीनों की सामुदायिक क्रिया को योग नहीं कहते, किन्तु पृथक्-पृथक् क्रिया से योग-सम्बन्ध होता है। शुभ परिणाम पूर्वक होने वाला योग शुभयोग है तथा अशुभ परिणाम से होने वाला अशुभ योग है। वास्तव में शुभ, अशुभ कर्म का कारण होने से योग शुभ, अशुभ नहीं कहा जाता; क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण, आदि अशुभ कर्मों के बन्ध में भी कारण होता है। (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6,3)। शुभ योगों के द्वारा शुभ कर्मों का तथा अशुभ योगों के द्वारा अशुभ कर्मों का आस्रव हुआ करता है। आचार्य अमितगति कहते हैं—

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योगवृत्तयः।
सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रवहेतवः॥

—योगसार, ३, १

अर्थात्—शुभ तथा अशुभ उपयोग के द्वारा वासना को प्राप्त मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ शुभाशुभ कर्मों के आस्रव की कारण कही जाती हैं। ये कर्म जनित द्रव्य मुझ में हैं, इनका कारण मैं हूँ—यह बुद्धि जब तक बनी रहती है, तब तक मिथ्यात्व छूट नहीं सकता है। क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि से निरन्तर कर्म का आस्रव होता रहता है। इस प्रकार कर्म के निमित्त से आस्रव—बन्ध समय—समय में होते रहते है, लेकिन मैं आस्रव—बन्ध रूप नहीं हूँ। आस्रव-बन्ध का सम्बन्ध मुझ से अवश्य है।

1. 'असुहेदरभेयेण' ब प्रति।
2. 'हवेइ' ब प्रति।
3. 'विजाणाहि' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

किण्हादि तिण्णि लेस्सा, करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।
ईसा-विसादभावो, असुहमणं त्ति य जिणा बेंति[1] ॥५१॥

कृष्णादितिस्रो लेश्याः करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः।
ईर्ष्याविषादभावोऽशुभमनश्चेति जिनाः ब्रुवन्ति॥५१॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन लेश्याएँ, इन्द्रियों से होने वाले सुख में तृष्णा के परिणाम, ईर्ष्या तथा विषाद भाव—इन सब को जिनेन्द्रदेव अशुभ मन कहते हैं।

भावार्थ—खोटे भावों से युक्त मन को अशुभ मन कहते हैं। मन के निमित्त से यह जीव कर्मों का आस्रव करने वाली क्रियाएँ करता है। लेश्या दो प्रकार की कही गई है—भाव लेश्या और द्रव्य लेश्या। कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। शरीर के कृष्ण, नील, पीत, आदि वर्णों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। योग तथा कषायों की प्रवृत्ति तीव्र, मध्य, मन्द, मन्दतर, चार प्रकार की होती है। तदनुसार जीव पाँच पाप रूप कार्यों में प्रवृत्ति करता है। यद्यपि लेश्या के असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं, तो भी क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल, इन छह लेश्याओं को गुणित करने से चौबीस तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान के भेद से ४८ एवं प्रत्याख्यान के पीत, पद्म, शुक्ल लेश्यामयी १२ तथा संज्वलन के भी ये ही १२ होने से कुल भेद बहत्तर कहे गये हैं। कृष्ण लेश्या वाला जीव अति प्रचण्ड क्रोधी होता है, बैर छोड़ता नहीं है। उसका लड़ने-भिड़ने का ही स्वभाव होता है। नील लेश्या वाले के सभी लक्षण कृष्ण लेश्या वाले के समान होते हैं। इतना अवश्य है कि कषायों की तीव्रता में कुछ कमी होती है। कापोत लेश्या में क्रोधादि कषाय की जघन्य प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार जहाँ पर तृष्णा है, ईर्ष्या है, शोक-विषाद है, वह सब अशुभ मन की वृत्ति कही गई है। वास्तव में इन्द्रियजन्य सुख में आसक्ति होना ही अशुभ मन है।

1. 'विंति' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

रागो दोसो मोहो, हास्सादि[1] णोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्ति[2]य जिणा बेंति[3]।।५२।।
रागो द्वेषो मोहो, हास्यादिनोकषायपरिणामः।
स्थूलो वा सूक्ष्मो वा, अशुभमनश्चेति जिनाः ब्रुवन्ति।।५२।।

अर्थ—सभी प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म राग, द्वेष, मोह, हास्य, आदि नोकषाय रूप परिणाम को जिनेन्द्रदेव अशुभ मन कहते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषयों की लम्पटता, ईर्ष्या और द्वेष के भाव, लाभ-हानि में हर्ष-विषाद करना, ये सभी पापास्रव के कारण हैं। राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन नौ नोकषाय रूप परिणाम चाहे तीव्र हों या चाहे मन्द, सभी अशुभ मन से होने वाले अशुभ आस्रव के कारण हैं। मूल में मन, वचन, काययोग से आने वाली द्रव्यकर्म, नोकर्म, रूप परिणमन में कारण पुद्‌गल कर्मवर्गणा को भी आस्रव कहा जाता है। कर्मों में भी स्थिति, अनुभाग बन्ध में कारण मिथ्यात्व, कषाय तथा विशेष रूप से अव्रत सहित राग-द्वेष भाव को अशुभ आस्रव कहा गया है। कर्म की प्रकृतियों में भी शुभ-अशुभ का विभाग किया गया है। शुभ या पुण्य प्रकृतियाँ अड़सठ कही गई हैं तथा पाप प्रकृतियाँ एक सौ मानी गई हैं। यद्यपि आस्रव मात्र मैल है, अशुचि है; फिर भी शुभ-अशुभ के भेद से विशेषता बतलाई गई है। इसलिए जहाँ आस्रव है, वहाँ अज्ञान अवस्था है। अशुभ मन की स्थिति में हमें अपनी अज्ञानता का पता नहीं चलता। क्योंकि हम राग-द्वेष-मोहादि के परिणामों में आसक्त होकर अपने रूप को भूले रहते हैं और जो दशा होती है, उस रूप ही अपने को समझते हैं। कहा भी है—

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमें सदा।
कर्म-चोर चहुं ओर, सरवस लूटे सुधि नहीं।।

—भूधरदास

---

1. 'हस्सादी' अ प्रति।
2. 'मणो त्ति' के स्थान पर 'मणंति' अ, ब प्रति।
3. 'विंति' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

भत्तित्थि-राय-चोरकहाओ वयणं वियाण[1] असुहं त्ति[2]।

बंधण-छेदण-मारणकिरिया सा असुहकायमिदि[3] ॥५३॥

भक्तस्त्रीराजचौरकथाः वचनं विजानीहि अशुभमिति।

बन्धच्छेदनमारणक्रिया सा अशुभकायेति ॥५३॥

अर्थ— *भोजन-कथा, स्त्री-कथा, राज-कथा और चोरों की कथा करना अशुभ वचन है। इसी प्रकार बाँधना, छेदना, मारना, आदि क्रियाओं को करना अशुभकाय समझना चाहिए।*

भावार्थ—विषय-कषाय का धन्धा करने वाला जीव रात-दिन अज्ञान भाव से मोह रूप संकल्प तथा राग-द्वेष रूप विकल्प किया करता है। इस लोक में सभी जीवों ने काम, भोग, बन्ध की कथा अनन्त बार सुनी है, कही है, परिचय में तथा अनुभव में आई है एवं प्रवृत्ति भी उसी रूप में हो रही है जो सब अशुभ है। जब यह भोग-उपभोग से सम्बन्धित बातें कहता है, तब अशुभ वचन कहे जाते हैं। क्योंकि संसारी जीव के विषय-भोग का व्यापार ही मुख्य है।

मूल में कथा दो प्रकार की कही जाती है—वीतराग या धर्मकथा, राग या वादकथा। धर्मकथा को सत्कथा तथा अशुभ वचनों वाली कथा को विकथा भी कहते हैं। कामी जनों द्वारा कही जाने वाली या सुनी जाने वाली स्त्रियों से सम्बन्धित संयोग-वियोग की तरह-तरह बातों को स्त्रीकथा कहते हैं। आज के विज्ञापनों में, प्रचार के साधनों में, हास्य-व्यंग्य, आदि में स्त्रीकथा की भरमार है। विभिन्न राज्यों, प्रदेशों, आदि के सम्बन्ध में कही जाने वाली राजकथा कही जाती है। भोजन-पान की प्रशंसा तथा तरह-तरह के व्यंजनों को बनाने की विधियों का वर्णन भोजनकथा कहलाती है। सरकारी कर बचाने, माल हड़पने, धोखा देकर धन-धान्य लूटने तथा अपहरण करने से सम्बन्धित बातें चोर-कथा कही जाती है। इसी प्रकार बाँधने, मारने, छेदने, पीटने, पीड़ित करने, आदि की शारीरिक क्रियाओं को अशुभकाय कहते हैं।

1. 'विहाण' ब प्रति।
2. 'ति' अ प्रति।
3. 'असुहकायं ति' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मोत्तूण असुहभावं, पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं[1]।
वद-समिदि-सील-संजम, परिणामं सुहमणं जाणे॥५४॥

मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्तं निरवशेषतो द्रव्यम्।
व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामं शुभमनः जानीहि॥५४॥

अर्थ—*पूर्व में कहे हुए सब अशुभ भावों को तथा द्रव्यों को छोड़ कर व्रत, समिति, शील तथा संयम रूप परिणाम होना शुभ मन समझना चाहिए।*

भावार्थ—जब तक विषय-कषाय से सम्बन्धित विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक उस अशुभ परिणाम वाले के अशुभ मन समझना चाहिए। अशुभ से हटने पर ही शुभ भाव रूप प्रवृत्ति होती है। अतः अशुभ भाव को छोड़कर व्रत, संयम, शील, आदि के परिणाम होना शुभ मन कहा गया है। प्रत्येक कार्य भाव पूर्वक होता है। अतः काम करने में उस कार्य के शुभ या अशुभ होने का कारण परिणाम ही है।

जैनधर्म में परिणाम मुख्य कहे गये हैं। जिस जीव के जैसा परिणाम होता है, वैसा ही उसके आस्रव-बन्ध होता है। अशुभ आस्रव-बन्ध में अशुभ मन कारण है और शुभ आस्रव-बन्ध में शुभ मन कारण है। जीव के परिणाम संसार तथा मोक्ष के कारण कहे गये हैं। वस्तु के भाव को परिणाम कहते हैं। परिणाम दो प्रकार का है—गुण तथा पर्याय। गुण अक्रमवर्ती है और पयार्य क्रमवर्ती। पर्याय रूप परिणाम तीन प्रकार के हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें से शुद्ध परिणाम ही मोक्ष का कारण है। वस्तुतः द्रव्य का स्वभाव परिणाम है जिसे उदय आदि से निरपेक्ष कहा गया है तथा जो तद्भाव या तत्त्व है। जिसके होने में द्रव्य के स्वरूप मात्र का लाभ होता है उसे परिणाम कहते हैं। परिणाम को गुणों की अवस्था भी कहा गया है। परिणाम दो प्रकार के हैं—अनादि तथा आदिमान। आदिमान दो प्रकार के हैं—प्रयोगजन्य तथा स्वाभाविक। धवला में दो प्रकार के परिणाम इस प्रकार कहे गये हैं—अपरिवर्तनमान और परिवर्तमान।

धर्म, अधर्म, आदि द्रव्यों के गति, उपग्रह, आदि परिणाम अनादि हैं। बाह्य निमित्तों की अपेक्षा होने वाले परिणाम आदिमान हैं। प्रत्येक समय में बढ़ने वाले या घटने वाले संक्लेश या विशुद्धि रूप परिणाम अपरिवर्तमान कहे गये हैं। किन्तु समय-समय में परिणामों में स्थित होकर परिणामान्तर को प्राप्त होना परिवर्तनमान परिणाम हैं।

---

1. 'सव्वं' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

संसारछेदकारण - वयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा, सुहकायं त्ति[1]य हवे चेट्ठा॥५५॥

संसारच्छेदकारणवचनं शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम्।
जिनदेवादिषु पूजा शुभकायेति च भवेच्चेष्टा॥५५॥

अर्थ—जो वचन संसार रूप बन्धन को काटने में कारण हैं, उन वचनों को जिनदेव ने शुभ वचन कहा है। जिनदेव, जिनवाणी, सद्गुरु की पूजा के लिए जो चेष्टा की जाती है, वह शुभकाय है।

भावार्थ—जिनवाणी में उपदेश कई अपेक्षाओं से किया गया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुभ-अशुभ मन, वचन, काय का कारण परिणाम है। परिणाम के होने में मन, वचन, काय निमित्त कारण कहे जाते हैं। इसलिए उपचार से उनको भी कारण कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जन्म-मरण रूप संसार को नष्ट करने वाले वचनों को शुभ वचन कहा है—यह बाहरी निमित्त की अपेक्षा कथन है। वास्तव में तो परिणाम की मुख्यता है। परिणाम अन्तरंग कारण है और मन, वचन, काय बहिरंग कारण कहे गये हैं। यहाँ पर 'परिणाम' शब्द से 'उपयोग' अर्थ लेना चाहिए। उपयोग के दो भेद हैं—शुद्ध तथा अशुद्ध। शुद्ध उपयोग राग से रहित तथा शुद्ध द्रव्य के अवलम्बन एवं ध्येय से प्रकट होता है। किन्तु राग ही जिसका ध्येय है और उसी रूप प्रवृत्ति है, वह अशुद्ध अपयोग है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का उपयोग अशुद्ध उपयोग कहा गया है। जीव का परद्रव्य से संयोग होने का कारण अशुद्ध उपयोग है। वास्तव में शुभ, अशुभ उपयोग के अभाव में ही शुद्ध उपयोग होता है। कहा है—

जिन-रवि वैन-किरन लहि जिन निज, रूप सुभिन्न कियो पर में से
सो जग मौलि 'दौल' को चिर थित, मोह विलास निकास हृदे से॥

तथा—

जो देखे वह देखना, जो जाने वह ज्ञान।
अपने को भूला रहा, निज स्वभाव पहचान॥

---

1. 'ति' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि॥५६॥

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे।
जीवस्य परिभ्रमणं कर्मास्रवकारणं भवति॥५६॥

अर्थ--जिसमें अनेक दोष (क्षुधा, तृषा, आदि) रूप तरंगें उठती हैं और जो दुःख रूप जलचरों से भरपूर है, उस जन्म रूप समुद्र में परिभ्रमण करना कर्मास्रव का ही कारण है।

भावार्थ—जहाँ भूख है, प्यास है, प्रतिदिन खाने-पीने की इच्छाएँ पीड़ित करती हैं और तरह-तरह के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, वे सभी दुःखमय हैं। यदि राग-द्वेष तथा उनसे उत्थित संकल्प-विकल्प न हों, तो यह संसार और इसमें जन्म-मरण रूप भ्रमण भी न हो। जहाँ संसार है, वहाँ दुःख है। क्योंकि राग-द्वेष में चलने का नाम संसार है। जहाँ मोह है, वहीं दुःख है। वास्तव में यह जीव अपने भ्रम व अज्ञान के कारण दुखी है। कोई इसे दुःख देने वाला नहीं है। यह अपने कारण से दुखी है और स्वयं इसे दूर कर सुखी हो सकता है। जिस तरह से नदी में पैदा होने वाली भँवर जल से उत्पन्न होती है और जल में विलीन हो जाती है, वैसे ही राग-द्वेष के आवर्त-विवर्त अपने भ्रम तथा अध्यवसान के परिणाम हैं। यह जीव मिथ्या अभिप्राय में भूला हुआ चार गतियों रूप संसार की सभी अवस्थाओं में तथा सभी द्रव्यों रूप अपने को हुआ मानता है, अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहचानता है (समयसार, गा. २६८)। वास्तव में अपने को नहीं जानना, नहीं मानना, यही मिथ्यात्व है। ग्यारह अंगों, नौ पूर्वों का जानकार यदि अपने आप को नहीं जानता है, तो मिथ्यादृष्टि कहा गया है। कहा भी है—

अपने शुद्ध स्वभाव से, कभी न कीनी प्रीत।
लगे रहे पर द्रव्य से, यह मूढ़न की रीत॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कम्मासवेण जीवो, बुड्डति संसारसायरे घोरे।
जं णाणवसं किरिया, मोक्खणिमित्तं परंपरया॥५७॥

कर्मास्रवेण जीवो, बूडति संसारसागरे घोरे।
या ज्ञानवशा क्रिया, मोक्षनिमित्तं परम्परया॥५७॥

अर्थ—कर्मों का आस्रव होने से जीव संसार रूपी भयानक सागर में डूब जाता है। जो क्रिया ज्ञानपूर्वक की जाती है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण कही जाती है।

भावार्थ—शुभ, अशुभ परिणाम के द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों का आना वह आस्रव है। शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि रूप भावना से भ्रष्ट तथा स्वसंवेदन से रहित जीव के सतत कर्म का आस्रव होता रहता है। शुद्धात्मा की भावना न होने से जीव शुभ-अशुभ परिणाम करता है। वास्तव में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय रूप लक्षण आस्रव के ही भेद हैं। रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव का परिणमन होना भावास्रव है। जैसे लोहचुम्बक पाषाण के साथ संसर्ग होने से लोहे की सुई में उत्पन्न हुआ भाव उसे गति के लिए प्रेरित करता है, वैसे ही राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित होने से उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आते हैं, उनको द्रव्यास्रव कहा गया है। मन, वचन, काय के निमित्त से जीव के प्रदेशों में स्पन्दन होना सो योग है, उसी को आस्रव कहते हैं। कर्मबन्ध के कारण आस्रव कहे गये हैं। क्योंकि जो बन्ध का कारण है, वही आस्रव है। जो जैसे परिणाम करता है, वह उसी भाव से सम्बन्धित हो जाता है। इसलिए अज्ञानमय क्रिया बन्धक तथा ज्ञानमय क्रिया अबन्धक कही गई है। ज्ञान की क्रिया रागादि के साथ मिश्रित न होने से, सदा काल ज्ञानमय परिणमित होने से आस्रव-बन्ध की कारण नहीं है। ज्ञान ज्ञानमय भाव वाला होने से निरास्रव ही है, उसे मात्र ज्ञायक कहा गया है। यद्यपि यथाख्यात चारित्र की अवस्था होने से पूर्व राग भाव का सद्भाव होने से बन्ध भी होता है, फिर भी ज्ञान की क्रिया परम्परा से मोक्ष का कारण कही गई है। (द्रष्टव्य है—समयसार, गा. १६७)

---

1. 'बुड्डदि' ब प्रति 'बुड्ंति' अ प्रति।
2. 'सागरे' प्रकाशित प्रतियाँ।
3. 'णासवकिरिया तम्हा' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

आसवहेदू जीवो, जम्म[1]समुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा, मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो।।५८।।

आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम्।
आस्रवक्रिया तस्मात् मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया।।५८।।

अर्थ—कर्मों के आस्रव के कारण जीव शीघ्र ही जन्म-समुद्र में डूब जाता है। इसलिए जो क्रिया कर्मों के आस्रव की कारण है, वह मोक्ष की कारण नहीं है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—चेतन, अचेतन रूप पर-पदार्थों में अपनत्व बुद्धि होने से कर्म का आस्रव होता है। पर-पदार्थ समूह में स्वामित्व बुद्धि होने के कारण जीव घोर संसार-समुद्र में मग्न रहता है। मोह रूप निजत्व बुद्धि अनन्त संसार का कारण है। क्योंकि कर्म से उत्पन्न द्रव्य मुझ में हैं, इनका कारण मैं हूँ—यह बुद्धि जब तक बनी रहती है, तब तक मिथ्यात्व नहीं छूटता। इसलिये मिथ्याज्ञान पर आधारित योगों से उत्पन्न हुई बहुत सी कल्पनाएँ संसार में परिभ्रमण कराने वाले कर्म-समूह के आस्रव में समर्थ हैं। जीव चाहे शुभ भावों में वर्तन करे या अशुभ भावों में, दोनों ही आस्रव या संसार को लाने वाले हैं। जो भाव संसार को लाता है, वह संसार से कैसे छुड़ा सकता है? अतः क्रिया मात्र आस्रव की कारण है। किन्तु लोग पाप को बुरा समझते हैं, पुण्य को भला समझते हैं। आस्रव-बन्ध की दृष्टि से दोनों एक जाति के हैं। दोनों का जन्म कषाय से होता है। क्या कषाय मोक्ष का कारण हो सकती है? "योगसार" में कहा गया है—

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि।
वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते।।३, ३८।।

अर्थात्—पाप के आरम्भ को छोड़कर जो प्रशस्त (पुण्य) रूप आचरण करता है, वह कषाय के वश में होकर ही शुभ, अशुभ भाव करता है। अतः वह कर्मों से नहीं छूटता। क्योंकि जो संसार के बन्धन का कारण है, वह मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है? मुक्ति के लिए ज्ञायक प्रभु की आराधना ही इष्ट है। कहा है—

चिन्मय ध्रुव ही इष्ट है, आतमज्ञान प्रमाण।
ज्ञायक भाव प्रसिद्ध है, है यह मन्त्र महान।।

---

1. 'कम्म' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा-गीति)

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं[1] आसवो जाण॥५९॥

पारम्पर्येण त्वास्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम्।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यमास्रवं जानीहि॥५९॥

अर्थ—कर्मों की आस्रव रूप क्रिया से परम्परा से भी मोक्ष नहीं होता। आस्रव संसार में भटकाने का कारण है, इसलिए उसे निन्दनीय समझना चाहिए।

भावार्थ—जो लोग पुण्य कर्म के आस्रव को अच्छा मानते हैं और परम्परा से उसे मोक्ष का कारण मानते हैं, उनके लिए आचार्य कहते हैं कि पाप कर्मों का आस्रव हो या पुण्य कर्मों का आस्रव हो; आस्रव तो आस्रव ही है। जब तक आस्रव है. तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए आस्रव को रोकना ही हितकर है।

वास्तव में कोई भी वस्तु आस्रव-बन्ध के लिए कारण नहीं है। यद्यपि संसारी जीवों के बाहरी वस्तु के अवलम्बन से रागादि रूप अध्यवसान होता है, तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता। बन्ध का कारण अध्यवसान भाव है। जहाँ अध्यवसान भाव है, वहाँ नियम से बन्ध होता है।

जो स्वयं आस्रव हैं, क्रिया रूप हैं, उनके सतत प्रवर्तमान रहने पर निर्वृत्ति या मोक्ष कैसे हो सकता है? मनुष्य की यही भूल है कि वह हिंसा में तो पाप मानता है, लेकिन राग-भाव में मजा मानता है, उसे पाप भाव नहीं मानता। राग, द्वेष, मोह रूप जो आस्रव भाव हैं, उनसे निर्वृत्त होने का तो उपाय नहीं करता है, बाह्य क्रिया या बाहरी निमित्त मिटाने के उपाय रचता है सो उनके मिटने से आस्रव नहीं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयों में नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-काय को रोकता है, तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। तथा कपट से भी वह उन कार्यों को नहीं करता है। यदि कपट से करे तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे? इसलिए जो अन्तरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादि रूप रागादि भाव हैं, वे, ही आस्रव हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार)। जब तक आस्रव-बन्ध का किंचित् निरोध नहीं होता, तब तक यथार्थ मोक्ष-मार्ग नहीं बनता। जो मोक्ष-मार्ग में चल ही नहीं सकता है, वह परम्परा से पाँच-दस भवों में मुक्ति को कैसे प्राप्त कर सकता है? इसलिए सर्व मिथ्यात्व तथा आस्रव के त्याग का सबसे पहले उपदेश दिया जाता है।

1. 'भणिदं' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

पुव्वुत्तासवभेया, णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्कं[1], अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥६०॥

पूर्वोक्तास्रवभेदाः, निश्चयनयेन न सन्ति जीवस्य।
उभयास्रवनिर्मुक्तमात्मानं, चिन्तयेन्नित्यम्॥६०॥

अर्थ—*निश्चयनय की दृष्टि में पहले कहे गये आस्रव के भेद जीव के नहीं हैं। इसलिये सदा काल आत्मा का, शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव से तथा द्रव्यास्रव एवं भावास्रव से मुक्त, चिन्तन करना चाहिए।*

भावार्थ—ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग से निर्वृत्त होने के लिए पुरूषार्थ करता है। इसलिये उसके आस्रव भाव न होने से निरास्रव कहा गया है। "समयसार" में कहा गया है—"राग, द्वेष, मोह आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं होते" (गा. १७७)। भावास्रव नहीं होने से द्रव्यास्रव भी नहीं होता। राग-द्वेष, मोह रूप भाव कर्म से रचित होने के कारण वस्तुतः जीव के नहीं हैं। क्योंकि चेतन के भाव अचेतन नहीं हो सकते। इसलिए द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में "सभी जीव शुद्ध हैं"। चेतन सदा काल चेतन रहता है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो।
निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥

—समयसार कलश, ११५॥

ज्ञानी आस्रव भाव की भावना के अभिप्राय से रहित होने के कारण निरास्रव कहा गया है। (ज्ञानी हि तावदास्रवभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। समयसार, गा. १७० की टीका)। यद्यपि द्रव्यप्रत्यय रूप से ज्ञानी के प्रत्येक समय में अनेक प्रकार के पुद्गल-कर्म बँधते हैं जिनमें ज्ञान गुण का परिणमन कारण है, किन्तु बुद्धि पूर्वक उपयोग न होने से जघन्य ज्ञानगुण होने पर भी निरास्रव कहा है। वस्तुतः 'सराग सम्यग्दर्शन'— यह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है; किन्तु ज्ञापक मात्र है। सम्यग्दर्शन तो अपने आपका श्रद्धान मात्र है।

इस प्रकार ज्ञान गुणधारी जीव को सब तरह के परभावों से हट कर अपने शुद्धात्म रूप का चिन्तन करना चाहिए।

---

1. 'उभयासवणिम्मुत्तं' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

९

(संवरानुप्रेक्षा)

(उग्गाहा)

चल-मलिणमगाढं य वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो[1] होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं[2] ॥६१॥

चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढ़कपाटेन।
मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधो भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम्॥६१॥

अर्थ—चल, मल, अगाढ़ दोषों से रहित सम्यक्त्व रूपी दृढ़ कपाटों से मिथ्यात्व रूप आस्रव का द्वार बन्द हो जाता है—ऐसा जिनदेव ने कहा है।

भावार्थ—संसार का मूल आस्रव तत्त्व है। उसका विरोधी एकमात्र संवर तत्त्व है। यह संवर तत्त्व सम्यग्दर्शन होने पर ही प्रस्फुटित होता है जो मिथ्यात्व रूप आस्रव का द्वार अर्थात् संसार को सदा के लिए अवरुद्ध कर देता है। शुद्ध सम्यक्त्व की ही यह महिमा है कि निज आत्मिक ज्ञान ज्योति से वह प्रकाशमान, दैदीप्यमान हो जाता है। वास्तव में यह शुद्ध ज्ञान घन समूह में स्थित होने की स्थिति है जो ज्ञान और राग के भेद-ज्ञान से प्रकाशित होती है। अशुद्धता का संग ही आस्रव है। अतः शुद्ध के आश्रय से शुद्धता को प्राप्त होना ही संवर है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन, ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा, परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥

—समयसार कलश, १२७

अर्थात्—शुद्ध नय आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म से रहित मात्र चैतन्य का अखण्ड पिण्ड देखता और जानता है। वास्तव में पर पदार्थों में ममत्व नहीं होना ही संवर तत्त्व की प्राप्ति में कारण है। अपनी महिमा आए बिना हम अपने स्वरूप में लीन नहीं होते और पर की ओर हमारी दृष्टि निरन्तर बनी रहती है। इसलिए स्व- पर भेद-विज्ञान के बल से अपनी आत्मा की महिमा में अनुरक्त आत्मदृष्टि वाले महान् पुरुष को शुद्ध निज आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नियम से होती है। कहा भी है—

आतम केवलज्ञानमय, निश्चय-दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाममय, आस्रव भाव विडार॥

—पं. जयचन्द

1. 'णिरोधो' अ प्रति।
2. 'णिद्दिट्ठो'।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

पंचमहव्वयमणसा, अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं, दाराणि कसायरहिय पलग्गेइं[1] ॥६२॥

पंचमहाव्रतमनसा, अविरमणनिरोधनं भवेन्नियमात्।
क्रोधाद्यास्रवाणां, द्वाराणि कषायरहितानि प्रलग्नानि॥६२॥

अर्थ—मन से पाँच महाव्रतों के पालन से अविरति (हिंसादि पाँच पाप रूप) से आने वाले कर्म नियम से रुक जाते हैं। क्रोध आदि कषाय रूप आस्रव के द्वार कषाय रहित (वीतराग) कपाटों से बन्द हो जाते हैं।

भावार्थ—"मैं किसी का नहीं हूँ और न कोई मेरा है" इस अपरिग्रह वृत्ति से सहित, विषय-कषायों से रहित, पाँच महाव्रतों के परिपालन से साधु के पाँच पापों से सम्बन्धित कर्मों का आस्रव नियम से रुक जाता है। साधु के २८ मूलगुणों में महाव्रत मुख्य हैं। अन्य सभी उसके परिवार हैं। यथार्थ में साधु निर्विकल्प सामायिक संयम का धारक होता है; किन्तु विशेष अभ्यास न होने से, संयम के विकल्प होने से श्रमण के मूलगुण कहे गये हैं। अतः परमार्थ में निर्विकल्प समाधि रूप सामायिक मूलगुण है। उससे हटने पर साधु मूलगुणों में भेद रूप से अपने को स्थापित करता है, जिससे पाँच पापों के आस्रव का निरोध होता है। अभिप्राय यह है कि स्वभाव से हटते ही संयम का विकल्प उत्पन्न हो जाता है। लोक-व्यवहार में इसे मूलगुण कहा जाता है। वास्तव में यह छेदोपस्थापना संयम है। क्योंकि संयम में २८ मूलगुण रूप भेदों को छेद कहा गया है। दोष को या विराधना को भी छेद कहा गया है। यथार्थ में साधना में वृत्ति होने से ही व्रत कहा जाता है। इसमें उपयोग रूप प्रवृत्ति मुख्य है। अपने स्वभाव में प्रवृत्ति होने पर कषायों का आना रुक जाता है। ज्यों-ज्यों साधना का अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों निवृत्ति सहज होती जाती है। इस तरह आस्रव का व्यापार रुक जाता है। इस व्यापार के बन्द हुए बिना धर्म का कारोबार प्रारम्भ नहीं होता। श्री मंगतराय ने कहा है—

ज्यों मोरी में डाट लगावे, तब जल रुक जाता।
त्यों आस्रव को रोके संवर, क्यों नहिं मन लाता॥
पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति कर, वचन-काय-मन को।
दश विध धर्म परीषह बाईस, बारह भावन को॥
ये सब भाव सतावन मिल कर, आस्रव को खोते।
सुपन दशा से जागो चेतन, कहाँ पड़े सोते॥

---

1. 'दाराणेकसायफलगेहिं' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सुहजोगेसु[1] पवित्ती, संवरणं कुणदि[2] असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगेण संभवदि॥६३॥

शुभयोगेषु प्रवृत्तिः, संवरणं करोति अशुभयोगस्य।
शुभयोगस्य निरोधः, शुद्धोपयोगेन सम्भवति॥६३॥

अर्थ—*शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ के योग से आने वाले कर्मों को रोक देती है तथा शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ योग से आने वाले कर्मों का निरोध हो जाता है।*

भावार्थ—योग का अर्थ है—जोड़ना, लगाना। यह जीव प्रत्येक समय अपने को शुभ या अशुभ भाव में लगाये रहता है। मन, वचन, काय की वृत्ति को योगवृत्ति कहते हैं। शुभ तथा अशुभ उपयोग के द्वारा होने वाली मन, वचन, काय की क्रियाएँ आस्रव में कारण कही गई हैं। शुभ, अशुभ, शुद्ध, वस्तु के आलम्बन के भेद से उपयोग तीन प्रकार का कहा गया है। यद्यपि शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है, लेकिन दोनों से आस्रव होता है। शुभयोग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभयोग से पाप का। पर के प्रति प्रवर्तमान शुभ परिणाम पुण्य का कारण कहा गया है। पुण्य की यह विशेषता है कि वह अपनी शुभ योग की प्रवृत्ति से, अशुभ योग के निमित्त से आने वाले भावों तथा कर्मों को रोक देती है। इसे यों भी कहा जाता है कि अशुभ से बचने के लिए शुभ भाव किया जाता है। शुभ परिणाम तीन प्रकार के कहे गये हैं—प्रशस्त राग, अनुकम्पा और चित्तप्रसाद। मोक्ष का मार्ग एक संवर है। इन्द्रिय, कषाय तथा संज्ञाओं का जितना निरोध होता है, उतने ही अंश में आस्रव का निरोध होता है। वास्तव में भेदविज्ञानी के आस्रव का निरोध होता है। पुण्य आस्रव के परिणाम से मोक्ष नहीं होता है। इतनी ही विशेषता कही गई है कि विशिष्ट दशा में उसके पापास्रव का निरोध हो जाता है। वास्तव में सभी प्रकार के कर्मों का निरोध तो शुद्धोपयोग से होता है। कहा भी है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥

—प्रवचनसार, गा. १८१

अर्थात्—शुभ परिणाम पुण्य का, अशुभ परिणाम पाप का और शुद्ध परिणाम ज्ञानगत (राग रहित) होने से मोक्ष का कारण है। पं. दौलतराम ने कहा भी है—

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

1. 'सुहजोगस्स' प्रकाशित प्रतियों।
2. 'कुणइ' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सुद्धुवजोगेण पुणो, धम्मं सुक्कं य होदि[1] जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू, झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं॥६४॥

शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य।
तस्माद् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेन्नित्यम्॥६४॥

अर्थ—शुद्धोपयोग के द्वारा ही इस जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होता है। अतः संवर ध्यान का कारण है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं और उसके निमित्त से उत्पन्न होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। जीव के एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है, किन्तु लब्धि रूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे गये हैं। स्वतः उपयोग रूप न होने से लब्धि निर्विकल्प होती है। परद्रव्य के संयोग के कारण जीव का उपयोग अशुद्ध रहता है जो विशुद्धि तथा संक्लेश रूप उपराग का कारण शुभ, अशुभ रूप होता रहता है। किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्ध उपयोग का अभाव हो जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध रहता है और वह परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं होता। शुद्ध उपयोग में शुद्ध, बुद्ध, एक, ज्ञान स्वभावी निजात्मा ध्येय होने से, शुद्ध का अवलम्बन होने से तथा शुद्धात्म-स्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। शुद्धोपयोगी निज शुद्धात्म-भावना के बल से सभी शुभ, अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित होने के कारण आस्रव से रहित होते हैं। इसलिये शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्ष का कारण कहा गया है। अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्मा के सन्मुख परिणाम शुद्धोपयोग कहा जाता है। यह जीव बाहर में कुछ भी धारण कर ले, लेकिन जब तक शुद्ध निज वस्तु-स्वभाव को ग्रहण नहीं करता, तब तक धर्मध्यान नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—धर्म से परिणत आत्मा शुद्धोपयोग परिणति वाला होता है। अतः शुद्धोपयोग के बिना न धर्म होता है, न धर्मध्यान होता है और न शुक्लध्यान होता है, न संवर होता है। शुद्धोपयोग से उपलब्ध होने वाला आनन्द अतीन्द्रिय, अनुपम, अबाध तथा अविनाशी होता है, इसलिए वास्तव में वही धर्म है। कहा भी है—

शुद्धातम अनुभव जहाँ, शुभाचार तहाँ नाहिं।
करम करम-मारग विषैं, सिव-मारग सिव मांहि॥

—पं. बनारसीदास

---

1. 'होइ' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

जीवस्स ण संवरणं, परमट्ठणयेण सुद्धभावेण[1]।
संवरभावविमुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६५॥

जीवस्य न संवरणं, परमार्थनयेन शुद्धभावेन।
संवरभावविमुक्तमात्मानं चिन्तयेन्नित्यम् ॥६५॥

अर्थ—परमार्थ या शुद्ध निश्चय नय से जीव के संवर नहीं है, क्योंकि जीव सदा शुद्ध भाव वाला है। इसलिये आत्मा को शुद्ध भाव पूर्वक संवर के विकल्प से रहित नित्य चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—आस्रव, संवर, आदि अवस्थाएँ कर्म के सम्बन्ध से होती हैं; लेकिन आत्मा कर्म के जंजाल से रहित शुद्ध स्वरूप है। इसलिये शुद्ध निश्चय नय से जीव के संवर नहीं होता। परमार्थ से, आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा उसमें कोई भी तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव से शुद्ध तथा निर्विकल्प, त्रिकाली, अखण्ड एक ज्ञायक है। वह जो है, वही सदा काल रहता है। तरह-तरह की अवस्थाएँ कर्म के सम्बन्ध से देखी जाती है। वस्तुतः द्रव्य निर्बन्ध है। द्रव्यार्थिक नय से जीव सदा शुद्ध स्वभावी है। इसलिये उसके आस्रव, बन्ध नहीं होते। आत्मा अरूपी है, स्पर्श से शून्य है, इसलिये उसका कर्म-पुद्गल के साथ सम्बन्ध नहीं है। निश्चय से कर्म जीव से बँधे हुए नहीं है। राग-द्वेष-मोह, आदि भावों के साथ जीवों का सम्बन्ध दूध और पानी के एक स्थान पर होने जैसा कहा जाता है। न तो दूध की एक बूँद कभी पानी होती है और न पानी कभी दूध होता है। कहा भी है—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति॥

—समयसार कलश, श्लोक ७

अर्थात्—जीव आदि नव पदार्थों में दूध और पानी की तरह मिले हुए होने पर भी ज्ञायक भाव रूप अपने चैतन्य स्वरूप को वह कभी नहीं छोड़ता। इसलिये नव तत्त्वों में भी उस एक अकेले को देखना आवश्यक है जो अनुभवगम्य है। वह चैतन्य चित्—चमत्कार मात्र अखण्ड रूप से उद्योतमान है। उसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं है। वह वीतरागी, ज्ञानानन्द स्वभावी है। पुण्य-पाप द्वैत है, लेकिन आत्मा अद्वैतमय है।

---

1. 'सुद्धभावादो' प्रकाशित प्रतियों।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१०
[निर्जरानुप्रेक्षा]
(गाहा)

बंधप्पदेसगलण[1], णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं, तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे॥६६॥

बन्धप्रदेशगलनं, निर्जरणमिति जिनैः प्रज्ञप्तम्।
येन भवेत् संवरणं, तेन तु निर्जरणमिति जानीहि॥६६॥

अर्थ—बँधे हुए कर्मों के प्रदेशों के गलने को निर्जरा कहते हैं—ऐसा जिनदेव ने कहा है। जिन कारणों से संवर होता है, उनसे ही निर्जरा होती है—यह समझना चाहिए।

भावार्थ—जो अपना नहीं है, उस भाव को अपना मानना संयोग है (अनात्मीय भावानां आत्मभावः संयोगः)। इस पर-संग के कारण ही उपयोग अशुद्ध माना जाता है। लेकिन जहाँ ध्येय शुद्ध है, शुद्ध का ही अवलम्बन है तथा शुद्धात्म-स्वरूप है, वहाँ भी शुद्धोपयोग द्रव्यदृष्टि से कहा जाता है। यह भावसंवर का स्वरूप कहा गया है। इसकी प्राप्ति चौथे गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में होती है। क्योंकि इसके बिना कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती। आगम में यह स्पष्ट रूप से माना गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल में स्वानुभूति नियम से होती है। क्योंकि ज्ञानोपयोग और राग की भिन्नता का स्पष्ट भेद-विज्ञान हो जाता है। प्रवचनसार गा. २५४ की टीका "रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् . . . ." शुद्धात्मानुभूति होती है—यह उल्लेख आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है। 'योगसार' में योगीन्द्रदेव कहते हैं—

सागारु अणगारु कु वि जो अप्पा णिवसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ॥६५॥

अर्थात्—गृहस्थ हो या मुनि, जो भी निज स्वरूप में निवास करता है, वह शीघ्र ही अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है, ऐसा जिनवर ने कहा है।

वास्तव में आत्मानुभूति, शुद्धोपयोग और भावसंवर नाम भिन्न होने पर भी एक हैं। जिसमें शुभ और अशुभ दोनों तरह के भाव नहीं होते, उसे ही भावसंवर कहते हैं। कहा है—

"शुभाशुभभावनिरोधः संवरः।" अनगार धर्मामृत, २, श्लोक १। संवर के बिना निर्जरा नहीं होती। यथार्थ में जिन अनात्मीय भावों को अपना माना था, उनसे छूट जाना, हट जाना ही भावनिर्जरा है। भावनिर्जरा होते ही द्रव्य रूप से वे झड़ जाते हैं, खिर जाते हैं, गल जाते हैं।

1. 'बंधपदेसग्गलणं' प्रकाशित प्रतियाँ। किसी-किसी प्रति में 'बंधप्पदेसग्गलण' पाठ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सा पुण दुविहा णेया, सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाण[1] पढमा[2], वयजुत्ताण हवे विदिया॥६७॥

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्वा तपसा क्रियमाणा।
चातुर्गतिकानां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेद् द्वितीया॥६७॥

अर्थ—*निर्जरा दो प्रकार की है। पहली निर्जरा वह है जिसमें उदयकाल आने पर कर्म स्वयं पक कर झड़ जाते हैं। दूसरी निर्जरा वह है जिसमें तप के द्वारा उदयावली के बाहर कर्मों को बलपूर्वक उदय में लाकर खिरा दिया जाता है। चारों गति के जीवों के पहली निर्जरा होती है और व्रती पुरुषों के दूसरी निर्जरा होती है।*

भावार्थ—यह गाथा 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में सं. १०४ है। सविपाक और अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की है। स्थिति पूर्ण होने पर उदित हुए कर्म रस देकर जब खिर जाते हैं, तब सविपाक निर्जरा कही जाती है। किन्तु तप के द्वारा स्थिति पूर्ण हुए बिना कर्म को खिरा देना अविपाक निर्जरा कहलाती है जो व्रत-धारियों के होती है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति में, श्रावक में, विरत (व्रती) में, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले चारित्रमोह के उपशमक, उपशान्त मोहक, चारित्रमोह के क्षपक, क्षीणमोह में तथा केवली जिन में क्रमशः असंख्यात गुणी निर्जरा कही जाती है। यहाँ पर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की अपेक्षा विशेषता से निर्जरा का वर्णन किया गया है। 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में महाव्रतधारी मुनियों के लिए यह कहा गया है।

उवसमभावतवाणं, जह-जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह-तह णिज्जर वड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो॥१०५॥

निर्जरा में तप की प्रधानता है। तप के द्वारा संवर एवं निर्जरा दोनों होती हैं। जिन परिणामों से संवर होता है, उनसे ही निर्जरा होती है। मुनिराज जब तक आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, तब तक सम्पूर्ण विकल्पों से रहित संवर-निर्जरा रूप स्थित रहते हैं। वास्तव में संवर सहित यथार्थ निर्जरा होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के यथार्थ निर्जरा कही गई है। लेकिन सम्यग्दर्शन के साथ व्रत होना भी आवश्यक है। यही इस गाथा का भावार्थ है। इसी प्रकार सच्चा तप आत्मस्वरूप में स्थिरता कहा गया है जो शुद्धपयोग रूप योग से होता है। पं. दौलतरामजी के शब्दों में—

निजकाल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो करम खिपावै, सोई सिव—सुख दरसावै॥

1. 'चाउग्गदीणं' ब प्रति।
2. 'पढमं' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

११
(धर्मानुप्रेक्षा)
(गाहा)

एयारस-दसभेयं, धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं, उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं॥६८॥

एकादशदशभेदो, धर्मो सम्यक्त्वपूर्वको भणितः।
सागारानगारयोः, उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः॥६८॥

अर्थ—उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने गृहस्थ-धर्म के ग्यारह भेद और मुनिधर्म के दश भेद कहे हैं। यह धर्म सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

भावार्थ—वास्तव में गृहस्थ और मुनि के धर्म में अन्तर नहीं है। क्योंकि आत्मा को जाने बिंना किसी को भी तत्त्वज्ञान नहीं होता। आत्मा को जानने में अनुभव ही प्रधान है। पर के साथ एकत्व का निश्चय होने से मूढ अज्ञानी मानव को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान नहीं होता। इसलिए गधे के सींग के समान उसके तत्त्वश्रद्धान भी नहीं होता। यथार्थ में तत्त्वार्थश्रद्धान में स्वानुभव ही प्रधान है। निज शुद्धात्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। बड़े 'नयचक्र' में "णादाणुभूइ सम्मं" ज्ञानानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

आत्मानुभूतिरितिशुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्धवा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्तु नित्यमवबोध घनः समन्तात्॥—समयसार कलश, श्लोक १३

मोक्ष का मार्ग शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए यह समान रूप से उपादेय है। अन्तर केवल यही है कि मुनि के लिए शुद्धोपयोग मुख्य है और गृहस्थ के लिए गौण है। शुभोपयोग गृहस्थ के लिए मुख्य है और मुनि के लिए गौण है। मुनि पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करते हैं और गृहस्थ एकदेश रूप में पालते हैं। गृहस्थ के भी वे ही दश धर्म हैं, जिनका वर्णन मुख्य रूप से मुनि के लिए किया जाता है। गृहस्थ धर्म के ग्यारह भेद वास्तव में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही गई हैं। प्रतिमा का लक्षण है—

संयम अंश जग्यो जहाँ, भोंग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम।

धर्म अनुभूति पूर्ण है। वह निज शुद्धात्मा की अनुभूति से ही पहचान में आता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

दंसण - वय - सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।

बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ[1]—देसविरदेदे॥ ६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च।

ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टा देशविरतस्यैते॥ ६९॥

अर्थ—*दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा उद्दिष्टत्याग—ये ग्यारह एकदेश व्रत का पालन करने वाले श्रावकधर्म के भेद हैं।*

भावार्थ—श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही गई हैं। वास्तव में सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्राप्त होते ही संयम का अंश प्रकट हुए बिना नहीं रहता। बाहर में जब इसे नियम या प्रतिज्ञा में बाँध लिया जाता है, तो प्रतिमा कहा जाता है। साधारण बोली में श्रावक के ये ग्यारह दर्जे (Class) हैं जो सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक का कोई दर्जा शुरु नहीं होता। यह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है कि उसके प्रभाव से सदा काल विषय-कषायों में आसक्त रहने वाला जीव मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनादि ३३ भंगों में अतिचार सहित सप्त व्यसनों का त्याग कर देता है और निर्दोष अष्ट मूल गुणों का पालन करता है। इसलिये प्रथम दर्शन प्रतिमा है। दूसरी व्रत प्रतिमा का धारक ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों को ग्रहण करता है। सामायिक प्रतिमा में नियम से प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीनों वक्त सामायिक करते हैं। चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में अष्टमी, चतुर्दशी तथा पर्व की तिथियों में पोसा सहित उपवास करते हैं। सचित्तत्याग प्रतिमा में कच्चे जल तथा हरित काय की विराधना का त्याग करते हैं। रात्रिभुक्ति त्याग में रात में भोजन तथा रात के समय में बने हुए भोजन के साथ दिन में कुशील का भी त्याग किया जाता है। सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा में सब प्रकार की चेतन-अचेतन पुरुष-स्त्रियों में मैथुन का त्याग कर दिया जाता है। आरम्भ त्याग प्रतिमा में घर-गृहस्थी के सभी काम करना छोड़ देते हैं तथा अपने बाहरी घर में रहना छोड़ देते हैं। फिर, दसवीं प्रतिमा में लौकिक कार्यों में कोई अनुमति तथा विमर्श (सलाह) नहीं देते। ग्यारहवीं प्रतिमा में अनुद्दिष्ट आहार लेते हैं। अपने उद्देश्य से बनाये हुए किसी भी प्रकार का भोजन नहीं लेते। इसके दो भेद हैं—क्षुल्लक और ऐलक। इन सभी की गिनती श्रावकों में की गई है।

---

1. 'अणुमणमुद्दिट्ठ' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

उत्तमखम-मद्दवज्जव[1]-सच्च[2]-सउच्च[3] च संजमं चेव।
तव-चाग-मकिंचण्हं[4] बम्हा[5] इदि दसविहं होदि॥७०॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमश्चैव।
तपस्त्याग-आकिंचन्यं ब्रह्मेति दशविधं भवति॥७०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य-ये देश भेद मुनिधर्म के हैं।

भावार्थ—मुनिधर्म के दश प्रकार कहे गये हैं। वास्तव में शुद्धात्मा की साधना ही एकमात्र धर्म है। जिसमें शुद्धोपयोग, समत्व रूप परिणाम रहते हैं तथा जिसकी चर्या वीतराग है; वही आत्मधर्म या मुनिधर्म है। मुनि धर्म की मूर्ति होते हैं। वे रत्नत्रय रूप होते हैं। इसलिये धर्म का वर्णन उनकी मुख्यता से किया जाता है। पं. दौलतरामजी कहते हैं—

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

—छहढाला, ५, १५

यथार्थ में निश्चय रत्नत्रय धर्म सहज, स्वाभाविक रूप से मुनि में ही प्राप्त होता है। इसलिये उनके मुख्य रूप से दो ही कार्य कहे गये हैं—ध्यान और अध्ययन। आत्मध्यान में लीन रहने वाले ही शुद्ध रत्नत्रय का पालन करते हैं और वही एकमात्र मोक्षमार्ग है। अपने शुद्धात्म-स्वरूप के सन्मुख होकर ही समस्त संकल्प-विकल्पों तथा कारक-प्रक्रिया के पार एक समय की पर्याय से अस्पृष्ट जाननहारा अभेद, नित्य, अविशेष, शुद्ध, नियत, अखण्ड, एक, ज्ञानानन्द स्वरूप का अनुभव करता हुआ जानन, जानन . . . . वीतराग स्वभाव में लीन हो जाता है। यही आत्मध्यान रूप परमात्म श्रद्धान, आत्मज्ञान तथा शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता रूप चारित्र, किंवा निश्चय रत्नत्रय कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति॥—समय.कलश, १०

आत्मस्वभाव को साधना ही यथार्थ साधना, आराधना है। आराधना के बिना चारित्र नहीं होता।

---

1. 'दम अज्जव' अ प्रति। 'दम अज्जय' ब प्रति।
2. 'सउच' ब प्रति। 'सच्चं' अ प्रति। 3. 'सच्चं' ब प्रति। 'सुच्चं' अ प्रति।
4. 'मकिंचण्णं' अ प्रति। 5. 'बंभं' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कोहुप्पत्तिणिमित्त[1], बहिरंगं जदि हवेदि संजोगो[2]।
ण कुणदि किंचि वि कोहं, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।७१।।

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तं बहिरंगं यदि भवति संयोगः।
न करोति किंचिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति।।७१।।

अर्थ—क्रोध की उत्पत्ति का बाहर में संयोग कारण उपस्थित होने पर जो तनिक भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमाधर्म होता है।

भावार्थ—कारण दो प्रकार के कहे गये हैं—अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण। अनादि काल से यह जीव विभाव भावों में अपनत्व बुद्धि होने के कारण दुखी है और इस दुर्बुद्धि से समय-समय पर इसके क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। अत~ क्रोध के उत्पन्न होने में अनिष्ट या कर्तृत्व बुद्धि ही मूल या अन्तरंग कारण है। बाहर में संयोगवश योग से वैसी सामग्री उपस्थित रहती है या हो जाती है; किन्तु जब यह जीव आत्मा और आस्रव के अन्तर तथा भेद को जान कर अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता है, तब क्रोधादि भावों में ज्ञानी की प्रवृत्ति नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञान भाव से क्रोध होता है, किन्तु आत्मज्ञान होते ही क्षमा धर्म प्रकट हो जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध के कारण ही लोगों को आत्मा नहीं रुचता है। किन्तु जिनकी आत्मा में रुचि है, ज्ञान और वैराग्य के सिवाय जिन को कुछ अच्छा नहीं लगता है, जो अपने में ही रहने का सतत अभ्यास करते हैं और जो तत्त्वज्ञान सम्पन्न होते हैं, वास्तव में उनके ही क्षमाधर्म कहा जाता है। क्षमा-स्वभावी आत्मा के आश्रय से क्षमा प्रकट होती है जो शुद्ध भाव रूप है। यह क्षमाधर्म उन मुनियों में प्रकाशित होता है जो समता भाव धारण करते हैं। कहा है—

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन में सदा समता धरन।।

—छहढाला, ६, ६

कहा भी है—

धर्मस्वभाव आप ही जान, आप स्वभाव धर्म सोइ मान।
जब वह धर्म प्रगट तोहि होय, तब परमातम पद लख सोय।।

—भैया भगवतीदास

---

1. 'कोहुप्पत्तिस्स पुणो' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'संजादं' ब प्रति। 'सक्खादं' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु, तव-सुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स॥७२॥

कुलरूपजातिबुद्धिषु, तपः श्रुतशीलेषु गौरवं किंचित्।
यो नैव करोति श्रमणो, मार्दवधर्मो भवति तस्य॥७२॥

अर्थ—*जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शील का तनिक भी मद नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है।*

भावार्थ—जैनधर्म का एक ही मानक है कि जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ अधर्म है और जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ धर्म है। क्षमा, मार्दव, आदि लक्षणों के द्वारा वस्तु-स्वभाव प्रकाशित होता है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है और मान आत्मा का विभाव है। कोई भी भाव बिना आश्रय के नहीं होता। क्षमा स्वभाव के आश्रय से होता है और मान पर के अवलम्बन से होता है। 'यह मेरा है', 'मैं इतना सुन्दर हूँ', 'मेरे बराबर कोई नहीं है', आदि मान के भाव हैं। मान या अहंकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि रूपवान होने पर ही सौन्दर्य का मद हो, बल्कि दो अक्षर पढ़ कर अपने को विद्वान् मान सकता है, हठ पूर्वक उपवास करके अपने को तपस्वी समझ सकता है। वास्तव में जो अपना है, उसका क्या मान? वास्तव में जो अपना नहीं है, उसका मान मिथ्या ही है। इसलिए जब तक अन्तर्मन में मिथ्या भाव रहता है, तब तक धर्म या मार्दवधर्म नहीं हो सकता।

मार्दवधर्म के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि शरीरादि संयोगी परपदार्थों से तथा परभावों से एकत्व बुद्धि तोड़ कर अपने स्वभाव से उपयोग जोड़ें। वास्तव में पर से ममत्व बुद्धि हटते ही स्वत्व का भान होने लगता है। यह आत्मानुभव तथा आत्मज्ञान से ही सम्भव है। अतः परमार्थ में निज आत्मा का अनुभव मार्दवधर्म है। उत्तम तपश्चरण ही जिसका स्वभाव हो, उस मुनि के उत्तम मार्दवधर्म होता है। कहा भी है—

कहा जानि जिय फूले चेतन, तुम तो विधिना वांचे।
सुद्ध सुभाव सहज सुख छोरि जु, इन्द्रिय-सुख-रस रांचे॥

—रूपचन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मोत्तूण कुडिलभावं, णिम्मलहिदएण[1] चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो[2], तस्स दु संभवदि णियमेण।।७३।।

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः श्रमणः।
आर्जवधर्मस्तृतीयः तस्य तु सम्भवति नियमेन।।७३।।

अर्थ—*जो श्रमण कुटिल भाव को छोड़ कर निर्मल हृदय से आचरण करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जवधर्म होता है।*

भावार्थ—आत्मा का स्वभाव सरल है। अपने स्वभाव में रहना यही सरलता है। जो भीतर में सरलता से रहता है, वही बाहर में मायाचारी छोड़ कर निष्कपट रह सकता है। धर्म के सभी लक्षणों में आचार्य कुन्दकुन्द यह कहना चाहते हैं कि भीतर और बाहर में समता भाव धर्म है। जो सरलता से रहता है, उसके आर्जव धर्म होता है। यथार्थ में बाहर में सरल होना इसलिए कठिन है कि मन कुछ सोचता है, वाणी से कुछ प्रकट हो जाता है और शरीर कुछ करने लग जाता है। तीनों की एकता होना बहुत कठिन है। क्योंकि हम क्रोध में भर कर कुछ कह बैठते हैं, और जैसा कहते हैं वैसा न तो मानते हैं और न करने के लिए तैयार होते हैं। जैसा वस्तु—स्वरूप है, वैसा ही जानना और उस रूप प्रवृत्ति होना ही सम्यक् मार्ग है। लेकिन बाहर में हम कहते कुछ हैं और मानते कुछ हैं। अतः वस्तु के स्वभाव के अनुसार मानना सम्यक् है। वस्तु को हम अपने अनुसार नहीं बना सकते हैं, पर जिसका जैसा वस्तुतः स्वभाव है, वैसा मानना ही सम्यक् है। दूसरे शब्दों में, आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे वैसा ही मानना और उसमें तन्मय होकर तद्रूप परिणम जाना ही आर्जव धर्म है। इस धर्म के प्रकट होते ही साधु के भावों में से कुटिलता दूर हो जाती है, आत्मा की निर्मलता प्रकाशित हो जाती है और सदाचार में प्रवृत्ति होने लगती है। अतः मन, वचन, काय में भी सरलता होती है। कविवर द्यानतरायजी कहते हैं—

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर ना वसै।
सरल सुभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा।।

1. 'णिम्मलहियएण' अ, ब प्रति।
2. 'तइया' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

पर – संतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो[1], तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।।७४।।

परसन्तापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम्।
यो वदति भिक्षु तुरीयस्तस्य तु धर्मो भवेत् सत्यम्।।७४।।

अर्थ—*दूसरों को संताप देने वाले वचनों को छोड़ कर जो भिक्षु अपना और दूसरों का हित करने वाले वचन बोलता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है।*

भावार्थ—वस्तु जैसी है, उसे वैसा जानने का नाम सत्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान का ज्ञान रूप जानना ही वस्तुतः सत्य है। वास्तव में वस्तु रूप से जिसकी सत्ता है, वह सत्य है। लेकिन वह तीन रूपों में प्रकट होती है; जैसे कि 'पट' नाम के पदार्थ की सत्ता है, उसे 'पट' रूप से जानने वाले ज्ञान की भी सत्ता है और शब्द रूप से 'पट' शब्द की भी सत्ता है। इन तीनों की एकता ही लोक-व्यवहार में सत्य मानी जाती है। अतः जो है, उसे वही जानो और उस पदार्थ के वाचक शब्द से उसे कहो। यही नहीं, सामने वस्त्र है और बगल वाले घड़े की ओर संकेत करे, तो वह असत्य ही है। इसी प्रकार कड़वे या सन्ताप देने वाले वचन बोलना असत्य है। मुनि जिनसूत्र के अनुसार ही बोले। साधु को आगमचक्षु इसीलिये कहा गया है कि वह समय (आगम) के अनुसार देखता, जानता और कहता है। आगम में व्यवहार से दश प्रकार के सत्य का वर्णन किया गया है—नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, और समयसत्य। अतः त्रैकालिक परम सत्य के आश्रय से उत्पन्न श्रद्धान, ज्ञान तथा वीतराग परिणति वाले लोक में हित, मित, प्रिय वचन ही बोलते हैं। अतः उनके ही सत्यधर्म कहा जाता है। कविवर द्यानतरायजी के शब्दों में—

कठिन वचन मत बोल, परनिंदा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी।।

---

1. 'तइया' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी, तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥७५॥

कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः।
यो वर्तते परममुनिस्तस्य तु धर्मो भवेत् शौचम्॥७५॥

अर्थ—आकांक्षा भाव से निवृत्त तथा वैराग्य भाव से सम्पन्न परम मुनि के शौचधर्म होता है।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भोग भोगने के लिए पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों की उपस्थिति मात्र पर्याप्त नहीं है। बाहर के भोगों को बिना भोगे भी आकांक्षा मात्र से यह तरह-तरह के कर्मों का बन्ध कर लेता है। इसलिए वास्तव में भोग तो कर्म का होता है। वस्तु-व्यवस्था में न्याय का नियम भी यही है कि जो कर्म का कर्ता है, वही उसका भोक्ता है। मूलाचार (गा. ८१) में यही कहा गया है—आकांक्षा और कलुषता से सहित यह जीव काम और भोगों में आसक्त होकर भोगों को नहीं भोगता हुआ भी इच्छा मात्र से कर्म बाँध लेता है। इसीलिए जिन इच्छाओं को यह भोगता है और जिनसे आज तक तृप्ति नहीं हुई है, उन आकांक्षाओं से निवृत्त होना ही सच्चा त्याग है। इस त्याग के बिना सच्चा वैराग्य नहीं होता और ज्ञान-वैराग्य के बिना शौचधर्म प्रकट नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

अर्थात्—आत्म-श्रद्धानी के नियम से ज्ञान और वैराग्य का बल होता है। क्योंकि वह अपने वस्तु-स्वरूप के अनुभव के लिए आत्म-स्वरूप में स्थिर होता है। ज्ञानशक्ति का कार्य जानन मात्र है। वैराग्यशक्ति का कार्य पर से भिन्न हो जाना है। यह इन दोनों शक्तियों की सामर्थ्य है कि कर्मों को भोक्ता हुआ भी ज्ञानी पुरुष कर्मों से नहीं बँधता है। जब तक कर्मों का आस्रव है, तब तक अपवित्रता है। इसलिये आत्मा की पवित्रता प्रकट करने के लिए आकांक्षा से मुँह मोड़कर ज्ञान-वैराग्य का सम्बल प्राप्त कर आत्म-स्वभाव के सन्मुख होने पर ही शौचधर्म होता है। पं. द्यानतरायजी कहते हैं—

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सौं।
शौच सदा निरदोष, धरम बड़ो संसार में॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

वद-समिदिपालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे णियमा॥७६॥

व्रतसमितिपालनेन, दण्डत्यागेनेन्द्रियजयेन।
परिणममानस्य पुनः, संयमधर्मो भवेन्नियमात्॥७६॥

अर्थ—जो साधु व्रत-समिति का पालन करता है, मन-वचन-काय का निग्रह करता है एवं पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, उसके ही नियम से संयमधर्म होता है।

भावार्थ—जो अपने स्वभाव से भ्रष्ट है, परमार्थ से उसके कोई नियम नहीं है। किन्तु जो अपने स्वभाव में गुप्त रहकर मौन रहता है, वही मुनि कहा जाता है। जो अपने शुद्ध स्वभाव को साधते हैं, वे साधु होते हैं। निज आत्म-स्वरूप में स्थिरता होने के कारण उनके संयमधर्म होता है। जो राग, द्वेष, मोह, आदि के संकल्प-विकल्पों से अपना उपयोग हटा कर निज स्वभाव में संयमित होते हैं, वास्तव में उनके संयमधर्म होता है। मन, वचन, काय को रोकना इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना, यह भी संयम है। लेकिन परमार्थ से संयमधर्म तभी है जब अपने स्वभाव में ही रहें, मर्यादा से बाहर नहीं जायें। अपने उपयोग को अपने में लगाना अन्तरंग संयम है। पाँचों व्रतों को पालना, पाँचों समितियों का आचरण करना, मन-वचन-काय तथा इन्द्रियों का निग्रह करना बाह्य संयम है। इसके दो भेद कहे गये हैं—प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम। इन दोनों प्रकार के संयमों में हिंसा का त्याग तथा इन्द्रिय-विषयों का निरोध गर्भित है। विषय-कषायों की रोक होने पर ही बाह्य संयम होता है जो अन्तरंग संयम का निमित्त होने से साधक या कारण कहा जाता है। वास्तव में मानव जीवन की सार्थकता संयम धारण करने में हैं। पं. बुधजन के शब्दों में—

जिय न्हान धोना तीर्थ जाना, धर्म नाहीं जप जपा।
तन नग्न रहना धर्म नाही, धर्म नाहीं तप तपा॥
वर धर्म निज आतम स्वभावी, ताहि बिन निष्फला।
'बुधजन' धरम निज धार लीना, तिनहिं कीना सब भला॥

पं. द्यानतरायजी कहते हैं—

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो।
संजम रतन सँभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए[1]।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण॥७७॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन।
यो भावयत्यात्मानं तस्य तपः भवति नियमेन॥७७॥

अर्थ—जो विषय और कषाय भाव का निग्रह करके ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भाता है, उसके नियम से तपधर्म होता है।

भावार्थ—विषय-कषायों को जीतने से तरह-तरह की इच्छाएँ रुक जाती हैं। रागादि भावों के रुकने पर समस्त इच्छाओं का त्याग हो जाता है। वास्तव में आत्मलीनता होने पर ही निर्विकल्प दशा वर्तती है। इसलिए तप की परिभाषा यही की गई है—समस्त रागादि पर-भाव रूप इच्छाओं के त्याग तथा अपने स्वरूप को जीतने का नाम तप है। जब तक आत्मस्वरूप में लीनता रूप तप नहीं है, तब तक बाहर में चाहे जितने कठोर, उग्र तप करने पर भी वे बाल (अज्ञानमूलक) तप कहे जाते हैं। वास्तव में शुद्धोपयोग रूप वीतराग भाव में ठहरना ही तप है। यह तप दो प्रकार का कहा गया है—अन्तरंग तप और बहिरंग तप। अन्तरंग तप के छह भेद हैं और बहिरंग तप के छह भेद हैं। इन सभी तपों में वीतराग भाव की प्रधानता है। वीतराग भाव के होने पर ही इन को तप कहा जाता है; अन्यथा नहीं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में—"अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादि रूप प्रवर्तन करके वीतराग भाव रूप सत्य तप का पोषण किया जाता है, इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतराग भाव रूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जान कर संग्रह करे, तो संसार में ही भ्रमण करेगा। बहुत क्या? इतना समझ लेना कि निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहार मात्र धर्मसंज्ञा जानना।" संक्षेप में, भोजन छोड़ने का नाम उपवास नहीं है, किन्तु चारों तरह के आहार के साथ जहाँ विषय-कषाय का त्याग कर अपने में लीन रहना है, वहाँ वास्तविक उपवास है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि चैतन्य स्वभाव में निस्तरंग स्थिरता ही तप है। अतः आत्म—स्वभाव की स्थिरता ही तप है।

1. 'भाण संझाए' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥७८॥

निर्वेदत्रिकं भावयति मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।
यः तस्य भवेत्त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः॥७८॥

अर्थ—जो समस्त पर द्रव्यों से मोह छोड़ कर उदासीन परिणामी होता है, उसके त्यागधर्म होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—यथार्थ में किसी वस्तु को छोड़ने का नाम त्याग नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो मेरापना या एकत्व बुद्धि है, उसे हटाना ही त्याग है। इसलिए आचार्य अकलंक कहते हैं—चेतन, अचेतन लक्षण वाले परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। जो वास्तव में अपना है, उसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जो अपना ही है, उसका त्याग कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जो अपना नहीं है, उसका भी त्याग कैसे किया जा सकता है? कारण यह है कि दूसरे की वस्तु को हम कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिये यही समझना चाहिए कि त्याग में वस्तु मुख्य नहीं है, किन्तु भाव मुख्य हैं। जिस राग बुद्धि ने भावों में वस्तु को ग्रहण कर रखा है, उस एकत्व बुद्धि को छोड़ना त्याग है। एकत्व बुद्धि के छूटने पर वस्तु नियम से छूटती है। जिस-जिस से राग की बुद्धि हटती जाती है—वह स्थान, घर-द्वार, क्षेत्र, पति-पुत्र . . . पत्नी, धन, वैभव तथा सम्बन्धित छूटते जाते हैं। वास्तव में राग-द्वेष के त्याग का नाम त्याग है। कहा भी है—

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि-शास्त्र-अभय-आहारा।
निहचे राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे॥

लोक में व्यवहार और परमार्थ दोनों में त्याग से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। त्याग सबसे बड़ा आदर्श है। इससे बड़ा कोई आदर्श नहीं हो सकता। कहा भी है—

तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम चाख समामृत, जो नित संत सुहायो॥

—पं. दौलतराम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुह-दुहदं[1]।
णिद्दंदेण दु वट्टदि[2], अणयारो तस्स अकिंचण्हं।।७९।।

भूत्वा च निस्संगो, निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम्।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगारः तस्याकिंचन्यम्।।७९।।

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रह को छोड़ कर, सुख-दुःख देने वाले कर्मजन्य निज परिणामों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व रहता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

भावार्थ—तरह-तरह के जितने भी राग-द्वेष, मोह, आदि भाव हैं, वे कुछ भी आत्मा के नहीं हैं। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है। किंचन माने कुछ और अकिंचन अर्थात् कुछ भी नहीं है। आत्मा के स्वभाव में किसी भी परभाव का अस्तित्व नहीं है। साधु निर्ग्रन्थ होता है। उसके कोई भी बाहर का परिग्रह नहीं होता। क्योंकि बाहर के मकान, खेत, आदि भीतर के परिग्रह में निमित कारण हैं। वास्तव में मिथ्यात्व, मोह, आदि को ग्रन्थ कहा गया है जो कर्मबन्ध के कारण हैं। भीतर का परिग्रह छूटने पर बाहर का परिग्रह नियम से छूट जाता है। अतः सभी तरह के भीतर-बाहर के परिग्रह को छोड़कर निज स्वभाव के साधन से ज्ञाता-द्रष्टा रूप पुरुषार्थ करके अधिक से अधिक समय तक निर्विकल्प रहने की जो साधना करता है, वही साधु है। जिसमें संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व है, राग-द्वेष-मोह की उपाधि है, आकुलता-व्याकुलता से जो कर्म-जाल से पीड़ित है, संतप्त है, वह कैसा साधु है? जो सब तरह का कोलाहल छोड़ कर अपने स्वभाव में मौन नहीं रहता है, वह क्या मुनि है? मुनि तो निर्ग्रन्थ सुख-दुःख को जीत कर निश्चिन्त तथा निर्द्वन्द्व रहता है और ऐसे ही आत्मस्वभाव में गुप्त रहने वाले साधु के आकिंचन्यधर्म होता है। यथार्थ में ज्ञानी साधु के परिग्रह के भाव नहीं होते। कविवर भूधरदासजी के शब्दों में—

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।।

1. 'दुहड' ब प्रति।
2. 'वट्टइ' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि रदिभावं[1]।
सो बम्हचेरभावं, सुक्कदि[2] खलु दुद्धरं धरदि[3] ॥८०॥

सर्वांगं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुंचति रतिभावं।
स ब्रह्मचर्यभावं सुकृतिः खलु दुर्द्धरं धरति॥८०॥

अर्थ—जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ अपने परिणामों में राग भाव नहीं करता, वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्य का धारक होता है।

भावार्थ—वस्तुतः वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही स्वभाव है। विभाव से भिन्न बतलाने के लिए उसका निर्देश किया गया है। संसार-दशा में कर्मोदय की अपेक्षा विभाव को भी स्वभाव कहा जाता है। क्योंकि जीव राग-द्वेष भाव नहीं करे, तो संसार का जन्म कैसे हो? लेकिन वस्तुतः यह स्वभाव नहीं है। यदि कर्म की प्रकृति को अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि स्वभाव न तो बदलता है और न बदला जा सकता है। अतः आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है। ब्रह्म का अर्थ है—निज शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निर्मल, ज्ञान-स्वरूप आत्मा। ऐसे निज शुद्धात्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है। वास्तव में जिसने अपने स्वभाव को पहचान लिया है, वही उसमें स्थिर होकर जम सकता है, लीन हो सकता है। जो इन्द्रियों के विषयों में उलझता है, मन का गुलाम होकर विषय-कषाय का धंधा करता है, उसके ब्रह्मचर्य नहीं होता। जिसने अपने स्वरूप को जान लिया है, पहचान लिया है, वह बाहर में रागादिक भावों के निमित्त उपस्थित होने पर भी अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता है। इसलिए अपने उपादान रूप वीतराग भाव को सम्हालने वाला ही ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्व. श्रीमद् रायचन्द्रजी के शब्दों में—

निरखीने नवयौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठनी पूतली, ते भगवान समान॥

अतः यथार्थ में आत्म—स्वभाव में लीन होना ब्रम्हचर्य है।

---

1. 'दुब्भाव' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'सक्कदि' ब प्रति।
3. 'धरिदुं' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सावयधम्मं चत्ता, जदिधम्मे जो पवट्टए[1] जीवो।
सो चेव जादि[2] मोक्खं, धम्मं इदि चिंतए णिच्चं॥८१॥

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा, यतिधर्मे यः प्रवर्तते जीवः।
सः चैव याति मोक्षं, धर्ममिति चिन्तयेन्नित्यम्॥८१॥

अर्थ—जो जीव श्रावक धर्म को पार (त्याग) कर मुनिधर्म में प्रवृत्ति करता है, उस धर्म से मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है—ऐसा प्रतिदिन चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—वास्तव में धर्म शुद्धोपयोग रूप है, वीतराग भाव में है। मुनि-धर्म में वीतराग-चर्या की प्रमुखता है और सराग चर्या गौण है। मुनि-दीक्षा संयम की प्रतिज्ञा के साथ होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"जिसके शरीरादि के प्रति परमाणु मात्र भी मूर्च्छा वर्तती है, वह सम्पूर्ण आगम का धारी होने पर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य जयसेन के शब्दों में—(प्रवचनसार, गा. २४३ टीका) जो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से एकाग्र होकर निज आत्मा को नहीं जानता है, उसका चित्त बाह्य विषयों में जाता है, इसलिए वह चिदानन्द, एक, निज स्वभाव से च्युत हो जाता है, जिससे राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करता है, उस परिणमन से अनेक प्रकार के कर्म बंधते हैं"। श्रावक धर्म में संयमासंयम होता है। इसलिये मुनिधर्म की प्रवृत्ति श्रेष्ठ कही गई है। शास्त्र में श्रमण शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी दोनों तरह के कहे गये हैं। लेकिन मुक्ति को प्राप्त करने वाला श्रमण शुद्धोपयोगी होता है। जो संयम की विराधना करता है, वह तो श्रमण होकर भी गृहस्थ है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

जदि कुणदि कायखेदं, वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी, धम्मो सो सावयाणं से॥—प्रवचनसार, गा. २५०

यदि श्रमण वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय के जीवों को पीड़ित करता है, तो वह श्रमण नहीं है; गृहस्थ है। क्योंकि छह कायों की विराधना सहित वैयावृत्ति श्रावकों का धर्म है।

स्पष्ट है कि श्रावकधर्म से मुनिधर्म श्रेष्ठ है। मुनिधर्म का पालन किए बिना कोई भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता।

---

1. 'हु वट्टए' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'सो चेव जाइ' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिच्छयणयेण जीवो, सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए, सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं॥८२॥
निश्चयनयेन जीवः, सागारानगारधर्मतो भिन्नः।
मध्यस्थभावनया, शुद्धात्मानं चिन्तयेन्नित्यम्॥८२॥

अर्थ—निश्चयनय से जीव गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म से भिन्न है। अतः दोनों धर्मों में मध्यस्थ भाव रखते हुए सदा शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ—धर्म वस्तु का स्वभाव है। इसलिये आत्मा में गृहस्थ-मुनिधर्म जैसा कोई भेद नहीं है। उसका स्वभाव नियत होने से वह सदा काल एक-सा रहता है। विविध भावों रूप परिणमन होने पर भी मूल स्वभाव कभी नहीं छूटता है। इसलिए कर्म के उदय से, भूमिका के अनुरूप शुभोपयोग रूप व्रतादिक की प्रवृत्ति होने पर श्रावक तथा मुनि को अणुव्रत-महाव्रतों की पालना में मध्यस्थ होकर निज शुद्धात्मा की साक्षी में ज्ञाता-द्रष्टा हो कर समयसार रूप निज कारणपरमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन करने से कर्म की निर्जरा होती है और चिन्ता करने से आस्रव-बन्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पुण्य शुभ आस्रव है; धर्म नहीं है। पुण्य भोग का कारण है; कर्म के क्षय का कारण नहीं है (भा. पा. ८४)। यदि यह जीव ऐसा नहीं मानता है कि आत्मा का आत्मा में लीन होना ही धर्म है, तो सभी तरह के पुण्य कर्मों को करता हुआ संसार ही बना रहता है। इसलिए जो संसार से छूटना चाहता है, उसे ऐसा मानना चाहिए कि पुण्य कर्म है; धर्म नहीं है। पाप से पुण्य में विशेषता है, लेकिन दोनों बन्ध के कारण हैं। अतः परमागम में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन का उपदेश है। यथार्थ में यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन है, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है। हे आत्मन! तू अपने आप को मोक्षमार्ग में स्थापित कर निज शुद्धात्मा का ध्यान, चिन्तन, अनुभवन कर, अपने में विहार कर। अन्य पर में कहाँ विहार करता है, रमण करता है? आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥

—समयसार, गा. ४१२

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१२

[बोधि-अनुप्रेक्षा]

(गाहा)

उप्पज्जदि[1] सण्णाणं, जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही[2], अच्चंतं[3] दुल्लहं[4] होदि[5] ॥८३॥

उत्पद्यते सद्ज्ञानं येनोपायेन तस्योपायस्य।
चिन्ता भवति बोधिरत्यन्तं दुर्लभं भवति॥८३॥

अर्थ—जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस उपाय का नितान्त चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अतः उसका ही विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। बोधि अपना भाव है, आत्मा का स्वभाव है। इसलिए बार-बार यही चिन्तन करना चाहिए कि—

धन-कन-कंचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥

अपने नियत स्वभाव का निरन्तर भान या जानन होना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान का विस्मृत होना अज्ञान है। ज्ञान अपने को जानता है और अज्ञान पर की चिंता करता है, उसे चाहता है, जानता है, मानता है।

मनुष्य जन्म पाना कठिन है। एक निगोदिया के शरीर में सिद्धों के समान अनन्त गुने जीव पाये जाते हैं। स्थावर जीवों से यह लोक खचाखच भरा हुआ है। ऐसे इस लोक में—

दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी।

त्रस पर्याय मिल जाने पर संज्ञी, पंचेन्द्रिय, उत्तम देश, उत्तम कुल पाना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। कदाचित् यह सब मिल भी जाये, तो सद्धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि धर्म-चर्चा सुनने पर भी विषयसुख में मग्न जीव विषयों से नहीं हटता है। कदाचित् वैराग्य भी हो जाये तो, तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सहज समाधि होना बहुत-बहुत कठिन है। वास्तव में पर-पदार्थ प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हैं; क्योंकि वे अपने अधीन नहीं है। एक द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण स्वतंत्र और गुण रूप परिणमन करने वाली एक समय की सत् पर्याय स्वतंत्र है। अतः त्रिकाली ध्रुव निज शुद्धात्मा का दर्शन स्वाधीन होने से सुलभ है, लेकिन संयोगी पर-पदार्थों का पाना दुर्लभ है। वस्तुतः जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया है, उसके लिए कुछ दुर्लभ नहीं है। क्योंकि वस्तुतः प्राप्ति (पाना) जानने में है, जिसका कभी अभाव नहीं होता।

1. 'उप्पज्जइ' अ, ब प्रति। 2. 'बोहिं' ब प्रति। 3. 'अच्चत्त' ब प्रति। 4. 'दुल्लहा' अ प्रति।
5. 'होइ' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कम्मुदयजपज्जाया[1], हेयं खाओवसमियणाणं खु[2]।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति होदि[3]सण्णाणं॥८४॥

कर्मोदयजपर्याय (रूप) हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु।
स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चितिः भवति सज्ज्ञानम्॥८४॥

अर्थ—*अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिकज्ञान कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाला परद्रव्य किंवा पर्याय है, इसलिए त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान आत्मा का निज स्वभाव है, इसलिए ग्रहण करने योग्य है।*

भावार्थ—जो कर्म का दिया हुआ है, वह अपना नहीं है और इसलिए वह त्यागने योग्य है। आज ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान (बुद्धि का विकास) हमें मिला है, वह वास्तव में हमारा नहीं है। इसलिए इसे सम्हालने में शास्त्र, मन और इन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिये आगम-ज्ञान वास्तविक नहीं है। सच्चा ज्ञान आत्मज्ञान या सम्यग्ज्ञान है। एक बार आत्मज्ञान होने पर वह सदा काल बना रहता है। अतः वही उपादेय है। ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं "अप्राप्त की प्राप्ति बोधि है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति बोधि है और बिना किसी रुकावट के रत्नत्रय को अन्य भव में अपने साथ ले जाना समाधि है।" व्यवहार में रचा-पचा जीव अपने आप से बेखबर है। इसलिये अपने आप को नहीं जानता है। कहा भी है—

सब व्यवहार क्रिया को ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।
निपट कठिन अपनी पहचान, ताको पावत हो कल्यान॥

—पं. बुधजन

अपनी पहचान, अपना ज्ञान वास्तव में सुलभ होने पर भी दुर्लभ हो गया है। क्योंकि हमारी दृष्टि परोन्मुख है, हम पर को जानने में लगे हुए हैं; आज तक कभी अपने स्वभाव के सन्मुख नहीं हुए। इसलिये आत्मज्ञान आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ के बिना सुलभ नहीं है।

मिथ्यात्व, मोह के उदय में जो हो रहा है उसमें अपना क्या है? लेकिन उसमें अपनापन ही मुख्य रूप से बन्ध का कारण है। यह सब अज्ञान से हो रहा है।

1. 'कम्मुदयजपज्जावो' ब प्रति।
2. 'पि' ब प्रति।
3. 'होइ' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मूलुत्तरपयडीओ, मिच्छत्तादि[1] असंखलोगपरिमाणा।
परदव्वं सगदव्वं[2], अप्पा इदि णिच्छयणयेण[3] ॥८५॥

मूलोत्तराः प्रकृतयो. मिथ्यात्वादयोऽसंख्यलोकपरिमाणाः।
परद्रव्यं स्वकद्रव्यम् आत्मा इति निश्चयनयेन॥८५॥

अर्थ—*निश्चयनय से आठ मूल कर्मों की असंख्यात लोक-प्रमाण मिथ्यात्व आदि उत्तर प्रकृतियाँ परद्रव्य हैं तथा आत्मा स्वद्रव्य है।*

भावार्थ—निश्चयनय की दृष्टि में राग, द्वेष, मोह, आदि भावों से निर्मित होने वाले आठ तरह के कर्म तथा उनकी प्रकृतियाँ जो असंख्यात लोकप्रमाण व्याप्त है, वे सब अचेतन किंवा जड़ हैं। उनका रूप चेतन से विलक्षण है। इसलिये वे सभी परद्रव्य हैं। पराया द्रव्य अपना कैसे हो सकता है? जो अपना नहीं है, वह अपना स्वरूप, अपना द्रव्य नहीं है। वास्तव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों से अनन्य निज आत्मा ही स्वद्रव्य है; शेष सब परद्रव्य हैं।

आत्मस्वभाव से भिन्न जो स्त्री-पुत्रादि सचित्त पदार्थ हैं तथा धन-धान्य आदि अचेतन पदार्थ है एवं आभूषण पहने हुए पुरूष आदि सचेतन अचेतन पदार्थ है, उन सबको सर्वज्ञ भगवान ने परद्रव्य कहा है। जो आठ कर्मों से रहित है, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध है, ऐसी आत्मा स्वद्रव्य है।
जो पुरुष परद्रव्य से विमुख होकर सम्यक्चारित्र से सहित निज शुद्धात्मा का ध्यान करते है, वे जिनवर के मार्ग में संलग्न होकर निज स्वभाव के आश्रय से परमपद को प्राप्त करते हैं।

---

1. 'मिच्छादि' अ, ब प्रति।
2. 'संगदव्वं' प्रकाशित प्रतियाँ।
3. 'णिच्छयं णाण' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

एवं जायदि[1] णाण[2], हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि।
चिंतेज्जइ[3] मुणि बोहिं, संसारविरमणट्ठे य॥८६॥

एवं जायते ज्ञानं हेयोपादेयं निश्चयेन नास्ति।
चिन्तेयेन्मुनिः बोधिं ससारविरमणार्थं च॥८६॥

अर्थ—इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से ज्ञान हेय और उपादेय रूप होता है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय में हेय-उपादेय का विकल्प नहीं रहता। अतः मुनि को संसार से विरक्त होने के लिए इसी रूप में सम्यग्ज्ञान या बोधि भावना का चिन्तवन करना चाहिए।

भावार्थ—जो वास्तव में अपना नहीं है, उसे अपना मानना, जानना मिथ्या है और इसलिए वह छोड़ने योग्य है? परमार्थ से जो अपना नहीं है, अपने से भिन्न है, वह छूटा हुआ है, उसे क्या छोड़ना है? जो ज्ञान अपना है, उसे क्या ग्रहण करना है? व्यवहार में ही शुद्धता, अशुद्धता, हेय, उपादेय की कल्पना की जाती है। आचार्य पद्मप्रभमलधारि कहते हैं—"मिथ्यादृष्टि सदा शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना (मिथ्या कल्पना) किया करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। व्यवहार में भी शुद्धता की दृष्टि वाला शुद्धता को प्राप्त करता है। यदि निज स्वभाव में शुद्धता न हो, तो यह जीव क्या अशुद्ध साधन से शुद्धात्मा (परमात्मा) को प्राप्त कर सकता है? कभी नहीं। अतः सम्यग्ज्ञान-वैराग्य की प्राप्ति निज शुद्ध स्वभाव के साधन से होती है। व्यवहार में यह जो कहा जाता है कि शुद्ध साधन से ही शुद्ध साध्य की प्राप्ति होती है; जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है—ये कथन इसी अपेक्षा से हैं। जब स्वभाव शुद्ध ही है, तो फिर क्या शुद्धाशुद्ध की अपने मन से कल्पना करना उचित है? अपने सम्यक् स्वभाव को साधने वाले की दृष्टि शुद्ध पर ही होती है, इसलिए उसके चित्त में शुद्ध-अशुद्ध की कल्पना उत्पन्न नहीं होती। अतः अपने निज शुद्ध स्वरूप का ही चिन्तवन करना चाहिए।

---

1. 'ज्ञायदि' अ प्रति।
2. 'ज्ञाण' अ प्रति।
3. 'चिंतिज्जइ' ब प्रति।
4. 'संसाविणासणट्ठाए' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(उपसंहार)

(गाहा)

वारस अणुवेक्खाओ[1], पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं[2]।
आलोयणं समाहिं[3], तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं॥८७॥

द्वादशानुप्रेक्षाः प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम्।
आलोचनं समाधिश्च तस्माद् भावयेदनुप्रेक्षाम्॥८७॥

अर्थ—*ये द्वादश अनुप्रेक्षाएँ प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना तथा समाधि रूप हैं। इसलिये निरन्तर इन को भाना चाहिए।*

भावार्थ—बड़े नयचक्र में समता, मध्यस्थ भाव, शुद्ध भाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना-इन सबको धर्म कहा गया है। कही गई बारह भावनाओं के चिन्तवन से समता भाव की प्राप्ति होना ही मुख्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो साम्य भाव रूप सुख में लीन हो कर बार-बार आत्मा का स्मरण, ध्यान-चिन्तन-मनन करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है। आचार्य कुन्दकुन्द (नियमसार, गा. ८३) कहते हैं—जो वचन-रचना को छोड़ कर तथा रागादि भावों का निवारण करके अखण्ड, आनन्दमय, निज कारणपरमात्मा का ध्यान करता है, उसके प्रतिक्रमण होता है। अपने अतिरिक्त सभी पदार्थ पर हैं, ऐसा जान कर त्याग करता है। इसलिए अपने ज्ञान में त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है। घोर संसार के मूल सुकृत और दुष्कृत की आलोचना तथा समाधि, ये सभी समता की अनुयायिनी हैं जो सहज आत्म-सम्पदा का अनुभवन करती हैं। जो वीतराग भाव से निज स्वरूप में लीन हो कर कारणपरमात्मा को ध्याता है, उसके परम समाधि होती है। जिसके जीवन में समता भाव नहीं है, उसके श्रमण होने से कोई लाभ नहीं है। समता भाव से ही सामायिक होती है। मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (विकारी परिणाम) से रहित निर्विकार चैतन्य परिणाम को साम्य या समता भाव कहा गया है।

---

1. 'अणुवेक्खाए' ब प्रति।
2. 'पडिक्कमण' प्रकाशित प्रतियाँ। 'वयणमयं पडिकमणं' नियमसार, गा. 153
3. 'सामाइयं' अ प्रति।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

रत्तिदिवं पडिकमणं, पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं[1]।
आलोयणं पकुव्वदि, जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती॥८८॥

रात्रिन्दिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामायिकम्।
आलोचनां प्रकरोति यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः॥८८॥

अर्थ—*यदि अपनी शक्ति व्यक्त रूप से विद्यमान है, तो रात-दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करनी चाहिए।*

भावार्थ—समता भाव से ही जीवन में मध्यस्थता प्रकट हो सकती है। समता भाव होने पर सहज रूप से प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना हो सकती है। केवल वनवास करने से, तीर्थ सेवा से, अणुव्रत-महाव्रत धारण करने से साम्य भाव प्रकट नहीं होता। किन्तु वीतराग भाव से समता उत्पन्न होती है। हे मुनि! निज समता स्वभावी परमतत्त्व का अभ्यास करने से ही निराकुलता की प्राप्ति होती है। आचार्य पद्मप्रभमलधारी के शब्दों में—

अनशनादितपश्चरणैः फलं
समतया रहितस्य यतेर्न हि।
तत इदं निज तत्त्वमनाकुलं
भज मुने! समताकुलमन्दिरम्॥

—नियमसार कलश, २०२

वर्तमान में जिसके जीवन में कुछ जैनधर्म का संस्कार है, तो इतनी योग्यता प्रकट हो जाती है कि वह प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक, आदि का अभ्यास कर सकते हैं। वास्तव में इनकी प्रायः जीवन में पूर्ण उपेक्षा है। क्योंकि हम ऐसा मान बैठे हैं कि ये मुनियों के लिए हैं; हमारे लिए नहीं हैं। यह निर्विवाद है कि मुख्य रूप से मुनि इनका पालन करते हैं, लेकिन श्रावकों के लिए भी अपेक्षित हैं; उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। वास्तव में इनके अभ्यास से मानव जीवन में धर्म का मार्ग प्रशस्त होता है।

---

1. 'सामाइयं चेव' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मोक्खगया जे पुरिसा, अणाइकालेण वारसणुवेक्खं।
परिभाविऊण[1] सम्मं, पणमामि पुणो पुणो तेसिं।।८९।।

मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम्।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुनस्तेभ्यः।।८९।।

अर्थ—*अनादि काल से ले कर अब तक जो पुरुष मोक्ष गये हैं, वे बारह भावनाओं के भलीभाँति चिन्तन से ही निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। अतः मैं उनको बार-बार नमस्कार करता हूँ।*

भावार्थ—निज आत्मा की आराधना में तत्पर विविध विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुख हो कर जो अपने शुद्धात्म-स्वरूप का चिन्तन करते हैं, बारम्बार परम तत्त्व की भावना भाते हैं, वे ही अविचल स्थिति रूप निश्चय शुक्लध्यान सहित अखण्ड, अद्वैत, परम चैतन्यमय आत्मा का ध्यान कर समाधि पूर्वक निर्वाण को प्राप्त करते हैं। आज तक जो भी अध्यात्म पुरुष मोक्ष गये हैं, वे निज शुद्धात्मा की भावना से उदित बारह भावनाओं के चिन्तन-मनन-अनुभवन से ही निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर आचार्य शुद्धात्म-चिन्तन की महिमा बताते हुए मुक्त पुरुषों की वन्दना करते हैं। आचार्य पद्मप्रभमलधारी ने सम्यग्दर्शन रूप सुबुद्धि सम्पन्न सम्यग्दृष्टि को वन्दन किया है। उनके ही शब्दों में—

इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्।।

—नियमसार कलश, ७२

इस प्रकार परमागम के अतुल अर्थ को, सार-असार विचार वाली सुन्दर बुद्धि के द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, अनुभवता है, उसे हम वन्दन करते हैं। परमागम का सार यही है कि अपने आप में लीन रहो। जो अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में लीन रहते हैं, वे वन्दनीय हैं। अपने में लीन रहना ही श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है।

1. 'परिभावियूण' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहिं जे वि भविया, तं जाणह तस्स माहप्पं।। ।।९०।।

किं प्रलपितेन बहुना, ये सिद्धा नरवरा गते काले।
सेत्स्यन्ति येऽपि भविकाः, तज्जानीहि तस्य माहात्म्यम् ।।

अर्थ— अधिक कहने से क्या ? जो महापुरुष अतीत काल में सिद्ध हुए हैं तथा भविष्य में जो भव्य पुरुष सिद्ध होंगे, वह सब अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य जानों।

भावार्थ— यथार्थ में सिद्धि न तो ग्रहण और त्याग में है, न लिंग और न वेष में है, न कर्म तथा नोकर्म में है। क्योंकि सिद्धि का अर्थ पूर्ण शान्ति है। आज तक जो भी महापुरुष निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और आगे भी मुक्त होंगे, वे सब अपने को आप में स्थापित कर निज शुद्धात्मा की भावना, चिन्तन, ध्यान, अनुभव से ही सिद्ध हुए हैं और आगे भी इसी विधि से सिद्ध होंगे। इसलिये अपने को पहचानने, समझने के लिए और वीतराग भाव में चलने के लिए इन बारह भावनाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। यह बारह भावनाओं के चिन्तन की ही महिमा है जो साधुओं को अनिवार्य रुप से प्रतिदिन संयोग और संयोगी भावरूप अनित्यता से हटा कर, राग और ज्ञान की भिन्नता का विचार तथा, त्रिकाली, ध्रुव, एक अखण्ड ज्ञायक प्रभु के स्मरण एवं स्वभाव के सन्मुख चिन्त में प्रवृत्त करती है। कहा भी है—

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीस भावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिर लिंगेण कायव्वं ।। भावपाहुड, गा. ९६

तथा—

निज रूप निहार लखे जब ही,
अन्तर तम सत्वर धुल जाता ।
अपने में होत मगन तब ही,
संसार—मोह सब गल जाता ।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

इदि णिच्छयववहारं, जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावइ परमणिव्वाणं॥९१॥(क्षेपक)

इति निश्चयव्यवहारं, यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथेन।
यः भावयति शुद्धमनसा, सः प्राप्नोति परमनिर्वाणम्॥ (क्षेपक)

अर्थ–*मुनियों के नाथ कुन्दकुन्द ने जिस निश्चय-व्यवहार का प्रतिपादन किया है, उसे जो शुद्ध मन से भाता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है।*

भावार्थ–आचार्य कुन्दकुन्द शुद्ध दिगम्बर मुनि थे। उन्होने परमतत्त्व की शुद्धता के साथ ही साधना की शुद्धता का विस्तार से वर्णन किया है। द्रव्य को त्रिकाली शुद्ध कहने वाले, गुण-पर्याय की शुद्धता का विवेचन कर, बन्ध-मोक्ष से रहित, शुद्ध स्वभाव में ही मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाले सम्पूर्ण जिनागम में वे परम आध्यात्मिक पुरुष थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही सद्धर्म का प्रतिपादन कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप शुद्ध रत्नत्रय को ही मोक्ष-मार्ग बतलाया। सम्यग्दर्शन को समझाने के लिए उन्होंने दृष्टि के विषय का वर्णन "समयसार" में किया, ज्ञान को कलंक तथा दूषण से बचाने के लिए ज्ञेयाकार परिणमन से भिन्न ज्ञान वस्तुतः स्वसंवेदन रूप है; ज्ञान-ज्ञेय की यह मीमांसा "प्रवचनसार" में की तथा व्यवहार व निश्चय चारित्र समझाने के लिए "नियमसार" की रचना की। आचार्य कुन्दकुन्द की यही विशेषता है कि उन्होंने व्यवहार-निश्चय को भलीभाँति घटा कर बताया है। वास्तव में जिनवाणी वही है, जिसमें निश्चय सापेक्ष व्यवहार का प्रतिपादन किया गया हो। जो शुद्ध भाव से निज शुद्ध वस्तु की भावना करता है, चिन्तन-मनन करता है, वह नियम से निज शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है। अपने आप को प्राप्त होना या सुख-शान्ति प्राप्त करना, एक ही बात है।

बाहरी परिग्रह का त्याग शुद्ध भाव के लिए किया जाता है। अतः रागादि रूप भीतरी परिग्रह का त्याग किए बिना बाहरी त्याग निष्फल ही है। क्योंकि अन्तरंग में भाव-शुद्धि के बिना करोड़ों वर्षों तक बाहरी तप करने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसलिये मोक्षमार्ग में चलने वालों को सबसे पहले अपने भाव, शुद्ध स्वभाव की पहचान करनी चाहिए। (मोक्षपाहुड, गा. २-६)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

दंसणभट्टा[1] भट्टा[2], दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।

सिज्झंति चरियभट्टा ,दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।९२।। (प्रक्षिप्त[3])

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।

सिद्धयन्ति चरित्रभ्रष्टाः, दर्शनभ्रष्टा न सिद्धयन्ति।। (प्रक्षिप्त)

अर्थ—*जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। सम्यक्त्व से भ्रष्ट जीव को निर्वाण प्राप्त नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।*

भावार्थ—जिनको अपने शुद्धात्म-स्वरूप का श्रद्धान नहीं है, उनकी परमात्मा में परमार्थ भक्ति नहीं हो सकती। इसलिए भक्ति के बिना भक्त, साधक, मोक्षमार्गी कैसे हो सकता है? मोक्ष-मार्ग में चलने वाला यदि गिर पड़े, भ्रष्ट हो जाए, तो वह किसी प्रकार सम्हल सकता है; लेकिन जो मोक्षमार्ग में आया ही नहीं है वह मोक्ष-मार्ग में कैसे स्थित हो सकता है? वास्तव में सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। जिसकी मान्यता गलत है, जो पूर्वाग्रह, दुराग्रह, हठाग्रह से ग्रस्त है, उसके सुधरने की कोई सम्भावना नहीं है। विचार सही होने पर ही आचरण सुधर सकता है। सच में परमार्थ से दूर होना ही भ्रष्ट होना है। जो अपने स्वभाव से भ्रष्ट है वह नियम से शिथिलाचारी होता है। लेकिन सम्यक् श्रद्धान होने पर कदाचित् बाहर में शिथिलता हो, तो भी सुधार हो जाता है; सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक तथा साधु नहीं होता। जैसे निर्मल आकाश-मण्डल में नक्षत्रों से युक्त चन्द्र-बिम्ब शोभायमान होता है, वैसे ही व्रतों से निर्मल तथा सम्यग्दर्शन से शुद्ध जिन-लिंग (निर्ग्रन्थ साधु भेष) शोभित होता है। सम्यक्त्व से रहित मनुष्य हजारो-लाखों वर्षों तक उग्र तपश्चरण भले ही करता रहे, लेकिन आत्म-श्रद्धान न होने से न तो वह मोक्षमार्गी होता है और न रत्नत्रय को प्राप्त करता है। अतः रत्नत्रय की उपलब्धि सम्यग्दर्शन पूर्वक होती है। सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। कहा भी है—

आप आप निहचे लखे, तत्त्व-प्रीति व्योहार।

जिह बिन ज्ञान-चरित अफल, सम्यग्दर्श प्रधान।।

---

1. 'दसंणभट्टो' ब प्रति
2. 'भट्टो' ब प्रति।
3. यह गाथा मूल में 'दंसणपाहुड' की है। 'भगवती आराधना' में यह गा. सं. ७३८ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गाहाणुक्कमणिया

(ग्रन्थानुक्रमणिका)

गाथा	गाथा क्रमांक
अ	
अट्ठीहिं पडिबद्धं	43
अण्णो अण्णं सोयदि	22
अण्णं इमं सरीरादिगं	23
अद्धुवमसरणमेयन्त	2
अरुहा सिद्धाइरिया	12
असुहेण णिरय-तिरियं	42
असुहेदर भेदेण दु	50
आ	
आसवहेदू जीवो	58
इ	
इगतीस-सत्त-चत्तारि	40
इदि णिच्छयववहारं	91
उ	
उत्तमखम-मद्दवज्जव	70
उत्तमपत्तं भणियं	17
उप्पज्जदि सण्णाणं	83
उवसप्पिणि-अवसप्पिणि	27
ए	
एक्को करेदि कम्मं	14
एक्को करेदि पावं	15
एक्को करेदि पुण्णं	16
एक्को खवेदि कम्मं	19
एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो	20
एयारस-दसभेयं	68
एयंत-विणय-विवरिय	48
एवं जायदि णाणं	86

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गाथा	गाथा क्रमांक
क	
कम्मणिमित्तं जीवो	36
कम्मासवेण जीवो	57
कम्मुदयजपज्जाया	84
किण्हादितिण्णि लेस्सा	51
किं पलविएण बहुणा	90
कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु	72
कोहुप्पत्ति णिमित्तं बहिरंग	71
कोहो माणो माया लोहो	49
कंखाभावणिवित्तिं	75
किच्चा जदणेण कुणई पापत्रं	34
च	
चल-मलिणमगाढ़ंय	61
ज	
जम्मसमुद्दे बहुदोस वीचिए	56
जलबुब्बुद-सक्कधणु	5
जाइ-जर-मरण-रोग	11
जीवणिबद्धं देहं	6
जीवस्स ण संवरणं	65
जीवादिपयट्ठाणं	38
ण	
णमिऊण सव्वसिद्धे	1
णवणिहि-चउदहरयणं	10
णिच्चिदर-धादु सत्त य	41
णिच्छयणयेण जीवो	82
णिद्दिट्ठो जिणसमये	18
णिरयाउजहण्णादिसु	28
णिरया हवंति हेट्ठा	39
णिव्वेगतियं भावइ	78

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

वारसाणुवेक्खा

गाथा	गाथा क्रमांक
द	
दंसणभट्टा-भट्टा	69
दुग्गंधं वीभच्छं	44
देहादो वदिरित्तो	46
प	
पंचमहुत्वय मणसा	62
पंचविहे संसारे जाई	24
परमट्ठेण दु आदा	7
परसंतावयकारण वयणं	74
पारंपज्जाएण दु	59
पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं	30
पुव्वुत्तासव भेया	60
ब	
बंधप्पदेसगलणं णिज्जरणं	66
भ	
भत्तित्थि-राय-चोरकहाओ	53
म	
मणि-मंतोसेह-रक्खा	8
मम पुत्त मम भज्जा	31
मादा पिदर सहोदर	21
मिच्छत्तं अविरमणं	47
मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो	32
मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादि	85
मोक्ख गया जे पुरिसा	89
मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं	54
मोत्तूण कुडिलभावं	73
र	
रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चकखाणं	88
रस-रुहिर-मंस-मेदट्ठी	45
रागो दोसो मोहो हास्सादि	58

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गाथा	गाथा क्रमांक
व	
वद-समिदिपालणाए	76
वरभवण-जाण-वाहण	03
वारस अणुवेक्खाओ	87
विसयकसाय विणिग्गह	77
स	
संजोगविप्पजोगं लाहालाहं	35
संसाररछेदकारणवयणं	55
संसारयदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि	37
सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा	09
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चादित्तं	13
सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो	26
सव्वे पयडिट्ठिदिओ	29
सव्वे वि पोग्गला खलु	25
सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं	70
सा पुण दुविहा णेया	67
सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं	04
सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे	81
सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं	64
सुहजोगेसु पवित्ती	63
ह	
हंतूण जीवरासिं महुमंसं	33
होऊण य णिस्संगो णियभावं	79

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (जीवकाण्ड)	४०-००
बृहज्जिनवाणी संग्रह	२५-००
समयसार/मोक्षशास्त्र	२०-००
प्रवचनसार/अष्टपाहुड	१६-००
नियमसार/समयसार नाटक	१५-००
सिद्धचक्र विधान	१३-००
प्रवचन रत्नाकर भाग १/आध्यात्मिक पाठ संग्रह	१२-००
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव/मोक्षमार्ग प्रकाशक	१२-००
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-००
परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१०-००
पंचास्तिकाय/जिनेन्द्र अर्चना (पूजन संग्रह)	१०-००
आ० कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१०-००
प्रवचन रत्नाकर भाग २,३,४ एवं ५	१०-००
ज्ञानगोष्ठी	७-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हि.,गु., म.,क.,अं.)	७-००
सत्य की खोज [कथानक] हि,गु ,म.,क.,त.,).	७-००
बारह भावना : एक अनुशीलन/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	६-००
जिनवरस्यनयचक्रम्/धर्म के दशलक्षण (हि.,गु.,म.,अं.)	६-००
क्रमबद्धपर्याय (हि.,गु.,म., क.,त.,अं,) अध्यात्मरत्नत्रय	५-००
बनारसीविलास/अर्द्धकथानक/अध्यात्म संदेश/छहढाला	५-००
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५-००
बनारसीदास विशेषांक/वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५-००
श्रावक धर्म प्रकाश/भक्तामर प्रवचन/बनारसीदास (कामिक्स)	५-००
गागर में सागर/चौबीस तीर्थंकर पूजन/आप कुछ भी कहो	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	३-७५
वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	४-५०
तत्वज्ञान पाठमाला भाग १,२, का सेट	४-००
बनारसीदास : व्यक्तित्व व कर्तत्व/चौसठ ऋद्धिविधान	३-००
चिद्विलास/परमार्थवचनिका	२-५०
णमोकार महामंत्र/विदेशों में जैनधर्म : उभरते पदचिह्न	२-००
जिनपूजन रहस्य	१-५०
मैं कौन हूँ/अहिंसा महावीर की दृष्टि में/भरतबाहुबली नाटक	१-२५